सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का प्रतिपादक मासिक

विशेषांक

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाई-283202 (आगरा) उ.प्र.

वर्ष : 55 ; अंक : 07

अक्टूबर 2022

प्रकाशन तिथि : 01.10.2022

मूल्य – एक प्रति : 22/–, द्विवार्षिक : 400/–

अमृतकण

नैव स्त्री न पुमानेष न नपुंसकः।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन स युज्यते।।

(श्वे. 5/10)

जीवात्मा वास्तव में न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। यह जब जिस शरीर को ग्रहण करता है, उस समय उससे संयुक्त होकर वैसा ही बन जाता है। जो जीवात्मा आज स्त्री है, वही दूसरे जन्म में पुरुष हो सकता है, जो पुरुष है, वह स्त्री हो सकता है। भाव यह है कि ये स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदि भेद शरीर को लेकर है, जीवात्मा सर्वभेद शून्य है, सारी उपाधियों से रहित।

◆ ◆ ◆

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः।।

(किष्किन्धा, 64/9)

अर्थात् मन को विषादग्रस्त नहीं बनाना चाहिये, विषाद में बहुत बड़ा दोष है। जैसे क्रोध में भरा हुआ साँप बालक को काट जाता है, वैसे ही विषाद पुरुष का नाश कर डालता है।

◆ ◆ ◆

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति।।

(श्रीमद्भागवत 3/29/23)

जो अभिमानी और भेददर्शी है, जिसने सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति वैर बाँध रखा है, अतएव जो दूसरे के शरीर में स्थित मुझ अन्तर्यामी परमात्मा से द्वेष रखता है, उसके मन को कभी शान्ति नहीं मिलती।

●●●

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :—शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते-करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 55 अक्टूबर 2022 अंक : 07

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः।।

अर्थात्

भक्तिहीन साधना में संलग्न रहने वाले कुयोगी निरूपन और निरतिशय आह्लादिनी शक्ति श्रीराधा के साथ अपने ब्रह्मस्वरूप ब्रजधाम में निरन्तर विहार करते रहते हैं, उन भक्तवत्सल सच्चिदानन्दघन भगवान श्रीकृष्ण को मेरा बार-बार नमस्कार है।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख- *योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज*	3
2.	सम्पादकीय	10
3.	श्रीमद्भागवत् में योग-परिचर्चा- *डॉ. विजय सिंह*	14
4.	योगी अगड़धत्ता की कहानी- *जगदीश राए बंसल*	17
5.	योग को अपनायें: दिव्य जीवन पायें- *दिनेश चन्द्र शर्मा*	21
6.	मंत्र-जप की महिमा एवं जप-विधि- *अन्तू राम यादव*	23
7.	गीता के उपदेश का रहस्य- *डॉ. विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र*	28
8.	गृहस्थ के लिए आवश्यक पंच महायज्ञों का विधान- *श्री हीरालाल शास्त्री*	32
9.	भाव शुद्धि से भेदभाव- *आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा*	35
10.	महा प्रभु जी का रज: प्रसाद- *श्री राजेश्वरदत्त शर्मा*	44
11.	प्रज्ञान-मन- *स्वामी आत्मानन्द जी महाराज*	46

एक प्रति	: रु. 22.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 180.00
द्विवार्षिक	: रु. 400.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 1000.00

हमारा विशेष लेख–

गुरुदेव क्या ?

योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

संसार में जन्म लेने वाले सभी प्राणियों की मतियाँ भिन्न–भिन्न होती हैं और अपनी मति के अनुसार ही हर व्यक्ति उपासना के मार्ग में निकलता है। किन्तु फिर भी एक प्रश्न उपासक के सामने बना रहा करता है कि गुरूदेव क्या हैं और कितने शक्तिशाली हैं ? साधारण रूप से इसका उपसंहार तो इसी के अन्दर हो जाता है।

मन्नाथस्त्रिजगन्नाथो मद्‌गुरुस्त्रिजगद्‌गुरुः।

ममात्मा सर्वभूतात्मा तस्मै श्री गुरवे नमः।।

अर्थात्– साधक को चाहिये वह अपने इष्टदेव को सकल अंड–ब्रह्माण्डों का नायक समझे और अपने गुरुदेव को तीनों लोकों का गुरु समझे, प्राणी मात्र के अन्दर ओत–प्रोत रहने वाले दिव्य चेतना को अपना ही आत्मा माने। यह साधक की अपनी धारणा है।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

अर्थात् – परमात्मा का स्वरूप श्रद्धामय है। जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वैसा ही वह बन जाता है। भारतवर्ष का श्रद्धामय– इतिहास यह प्रमाणित करता है कि श्रद्धावान पुरुषों ने अपनी श्रद्धा के बल से पत्थरों से ईश्वर को प्रकट कर लिया, धन्ना जाट आदि की कथायें भक्त चरित्रों के अन्दर बड़े उत्साह के साथ गाई जाती हैं। धन्ना जाट काश्त करने वाला साधारण व्यक्ति था, उसको केवल मात्र बहलावे के लिये किसी पंडित ने कह दिया कि तुम्हारे हाथ में जो टुकड़ा है इसके अन्दर श्री श्यामसुन्दर छिपे हुए हैं। उसके मन में पूर्ण परिपक्व निष्ठा बनी और उस पत्थर के टुकड़े में से जगदात्मा अखिल ब्रह्माण्ड नायक श्रीकृष्ण को ढूंढ निकाला। यह श्रद्धा का ही उत्तमोत्तम परिणाम है। धन्ना के अतिरिक्त और भी अनन्त कथायें हैं। जिन्होंने श्रद्धा के आधार पर सब कुछ पा लिया है। इसलिये " मन्नाथस्त्रिजगन्नाथो " की धारणा करके साधक अपने इष्टदेव को सर्वथा पूज्य मान ही सकता है।

तात्त्विक बात

किन्तु तात्विक बात क्या है ? इसके विषय में कुछ विचार कर लेना परम आवश्यक है। जिस समय हम रामायण को उठाकर अध्ययन करते हैं तो उस समय देखते हैं कि भगवान शिव के आराध्यदेव श्री रामचन्द्र जी हैं। इसके लिये सबल प्रमाण है – सती का वह उपाख्यान जिसके काणर भगवान सदाशिव ने उनका परित्याग कर दिया था। उनका अपराध इतना ही था कि उन्होंने भगवान शिव की अर्धांगिनी होते हुए श्री रामचन्द्र जी के ईशत्व की परीक्षा के लिए कृत्रिम सीता का रूप बना लिया। भगवान शिव को यह स्वीकार न हुआ और उन्होंने सती का परित्याग इसलिये कर दिया क्योंकि उन्होंने उनके आराध्यदेव श्री रामकी पत्नी सीता का रूप

धारण किया था, जिसको वे मातृ भावना से देखते थे।

इस छोटी सी भूल का इतना बड़ा परिणाम भगवती सती को भोगना पड़ा कि जब तक उन्हें पार्वती रूप से भगवान शिव ने अंगीकार नहीं किया तब तक उन्हें घोर तप करना पड़ा और जब तक सती का शरीर रहा तब तक वे परित्यकता ही रहीं। अर्धांगिनी रूप से उनका मिलन फिर सती स्वरूप में न होकर दूसरा जन्म धारण करने पर पार्वती रूप से हुआ। पुराणों की इस कथा से यह आभासित होता है कि श्रीराम, भगवान शिव के आराध्यदेव हैं। उधर पद्मपुराणान्तर्गत दूसरा प्रकरण मिलता है। भगवान श्री राम को, जबकि सीता हरण हो गया, घोर दुःख हुआ व उन्होंने दण्डकारण्य में रहकर भगवान सदाशिव का सहस्त्र नाम जपते हुए व पर्णाहार करते हुए या केवल जल का ही आधार लेकर वर्षों तक घोर तप किया। परिणाम स्वरूप भगवान सदाशिव प्रगट हुए। भगवान शिव के प्रगट होने का विषद् वर्णन शिव गीता में मिलता है। पहले एक बड़ा भारी महान शब्द सुनाई दिया। धीरे–धीरे प्रकाश हुआ और उस महान प्रकाश के अन्दर जगदम्बा पार्वती सहित भगवान सदाशिव विराजमान थे। भगवान सदाशिव ने प्रगट होकर श्रीराम को पाशुपत अस्त्र प्रदान किया और उनको आश्वासन देते हुए कहा :–

इदं पाशुपतं दिव्यं प्रगृहाण रघूद्भव।
एतदासाद्य पौलस्त्यं जहि मा शोकमर्हसि।।

हे राम ! तुम यह पाशुपत अस्त्र ग्रहण करो इसको लेकर तुम रावण को मारो तुम चिन्ता के लायक नहीं हो। परिणामस्वरूप भगवान शिव से वरदान प्राप्त कर श्री राम ने लंका पर चढ़ाई की और घोर युद्ध के साथ रावण को पराजित करके व उसके मृत हो जाने के बाद उसके भाई विभीषण को राज्य सौंपकर सीता को वापस ले आये। जिस समय श्री राम ने लंका पर चढ़ाई की और सेतुबन्ध करना आरम्भ किया उससे पहले उन्होंने अपने आराध्यदेव भगवान सदाशिव की प्रतिष्ठा समुद्र किनारे की एवं भगवान शिव की आराधना करके उनके आशीर्वाद प्राप्त कर लंका पर चढ़ाई की और संग्राम में विजय प्राप्त की। लंका के संग्राम के बाद जिस समयश्रीराम पुष्पक विमान से लौट रहे थे उस समय अपनी सहधर्मिणी सीता को अपने वनवास में रहने के स्थानों को दिखलाया। उसमें विशेष रूप से भगवान शिव की जहाँ आराधना की गई थी उस स्थान को दिखलाते हुए श्रीराम ने कहा– " **अत्र पूर्व महादेवः प्रसाद मकरोद्विभुः।**

अर्थात् हे सीता यह वह स्थान है जहाँ पर भगवान महादेव जी ने मुझ पर कृपा की थी। इस प्रकरण के पढ़ने से यह पूरी तरह आभासित होता है कि भगवान सदाशिव श्रीराम के आराध्य देव हैं। इसी प्रकार जब हम श्रीकृष्ण चरित्र का अध्ययन करते हैं तो उनके गोकुल में बाललीला के समय में भगवान शिव दर्शनार्थ आते हैं और उन्हें अपना इष्टदेव बतला करके यशोदा जी से प्रार्थना करके उनके दर्शन करते हैं। द्वारिका वास के समय में रूक्मिणी से पुत्रोत्पत्ति के निमित्त उपमन्यु ऋषि से दीक्षा ग्रहण करके भगवान श्रीकृष्ण ने बारह साल तक घोर तप किया। परिणामस्वरूप उनके घर में रूक्मिणी के गर्भ से प्रद्युम्न का जन्म हुआ। इसके साथ–साथ भगवान श्रीकृष्ण द्वारा नित्य नियम से भगवान शिव का पार्थिव पूजन का वर्णन पुराणों में मिलता है। एक बार माध्यान्हिक नित्यकर्म में भगवान श्रीकृष्ण लगे हुए थे। उसी समय मार्कण्डेय आदि मुनि भगवान श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ आये। उस समय भगवान श्रीकृष्ण शिव का

पूजन कर रहे थे। मार्कण्डेय आदि मुनियों ने श्रीकृष्ण की शिव उपासना को देखकर बड़े आश्चर्य के साथ श्रीकृष्ण से ही यह प्रश्न किया–

त्वं विष्णुः कमलाकान्तः परमात्मा जगद्गुरुः।

तव पूज्यः कथं शम्भूरेतत् सर्व वदास्मान्।।

अर्थात्– हे श्रीकृष्ण तुम स्वयं परमात्मा जगदगुरु विष्णु हो तुम्हारे पूज्य भगवान शिव किस प्रकार है ? यह बात हमारी समझ में नहीं आयी। इसलिये हमें स्पष्ट खोलकर समझाओ कि भगवान सदाशिव तुम्हारे आराध्यदेव किस प्रकार हैं ? भगवान श्री कृष्ण ने इसका उत्तर दिया– हे मुनि मार्कण्डेय ! यद्यपि तुम तात्विक बात को जानते हो फिर भी तुमने लोकहित के विचार से जो प्रश्न किया है उसका उत्तर तुम्हें समझाकर बतलाता हूँ। जिस परमानन्द ज्योति की मैं आराधना करता हूँ उसका वर्णन सावधान होकर सुनो।

ज्योतिर्यत् परमानन्दं सावधानमतिः श्रृणु।

वामांगादभेवतस्य सोहंविष्णुरिति स्मृतः।।

जनयामास धातारम दक्षिणांगात्सदाशिवः।

मध्यतो रूद्रमीशानं कालात्मा परमेश्वरः।।

तपस्तपन्तु भावत्सा इति तानब्रवीच्छिवः।

अर्थात्– जिस परमानन्द ज्योति की मैं आराधना करता हूँ वह भगवान महादेव जी हैं। मैं उनके वाम भाग से पैदा हुआ इसलिए विष्णु नाम से विख्यात हूँ। उन्होंने अपने दक्षिण भाग से ब्रह्मा जी को पैदा किया और मध्य से रूद जी को पैदा किया और हम सब की उत्पत्ति हो जाने के बाद भगवान महादेव जी ने आज्ञा दी कि हे पुत्रो तुम तप करो। इस से यह मालूम पड़ता है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों के मूल कारण कोई और ही हैं और वह सत्ता उनसे आगे की है।

श्री देवी भागवत आदि पुराणों के अन्दर कुछ और ही प्रकार की कथायें मिलती हैं।

एक बार ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों देव घूमते हुए किसी दिव्य लोक में जा निकले, वह लोक बड़ा दिव्य था, जिसको ये लोग पहले जानते ही नहीं थे। जब उस लोक में ये आगे बढ़ते ही चले गये तो एक दिव्य मन्दिर के अन्दर दिव्य सिंहासन पर विराजमान अष्टभुजी महामाया भगवती दुर्गा को देखा। ज्यों ही इन सबने भगवती का दर्शन प्राप्त किया तो ये सब युवक स्त्रियाँ बन गये। जब अपने आप की यह स्थिति देखी तो स्वयं विष्णुभगवान ने हाथ जोड़कर अत्यन्त विनयपूर्वक देवी की स्तुति की। इन सबने हाथ जोड़कर कहा:–

हे माता ! हमने यहां आकर के यह जान लिया कि सृष्टि की उत्पति और प्रलय तुम से ही होती है। हमने इस लोक में आ करके हरि और ही देखे। इसी प्रकार शिव और ब्रह्मा और ही थे। इससे यह ज्ञात होता है कि और भुवनों में भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव और ही होंगे। हे माता ! हम तेरे महान प्रभावों को नहीं जान सके।" इस प्रकरण से यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव से भी परे और तत्व है, जिस तत्व की ये स्वयं आराधना करते हैं। श्री महाभारत में युद्ध के उपरान्त गीता के प्रकरण में अर्जुन ने भगवान श्री कृष्ण से प्रार्थना की कि हे प्रभो ! आपने युद्ध के समय

जो गीता सुनाई थी वह अब मुझे पूरी–पूरी तरह याद नहीं है इसलिये कृपा करके मुझे गीता का उपदेश दुबारा कर दीजिये। अर्जुन की ऐसी प्रार्थना सुनकर श्री कृष्ण ने उत्तर दिया कि अर्जुन! तुमने यह बड़ी भारी भूल की कि उस परमोपदेश को भुला दिया।

न शक्यस्तन्मया भूयः तथा वक्तुंह्यशेषतः।

परंहि ब्रह्म कथितं योग युक्तेन तन्मया।।

अर्जुन तुमने उस उपदेश को भुला दिया यह बहुत भारी गलती की। वह उपदेश मैंने योग युक्त होकर दिया था। इसलिये वह स्वयं परब्रह्म का ही उपदेश था। अतः वह पवित्र ज्ञान जैसा का तैसा अब मुझसे भी नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकरण को पढ़ करके भी कृष्ण का योग युक्त होकर उपदेश देना स्थिति का तारतम्य बतलाता है। इन सभी प्रकरणों से यह प्रगट होता है कि श्री राम के रूप में श्रीशिव ने व कभी शिव के रूप में श्रीराम ने किसी और ही तत्व की उपासना की थी, जो परात्पर है और सर्वतोबन्द्य है, सभी ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवता उसी परब्रह्म के प्रतीक मात्र है और वह सत्ता उनसे भी परे है, हमारे शास्त्रों में व पुराने इतिहास में श्री गुरुदेव की बहुत बड़ी महिमा लिखी है और उसका अन्तिम निष्कर्ष यह दिखलाया है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव सभी देव उस तत्व की आराधना से ही ब्रह्मा–विष्णु–शिव हैं। अन्यथा सर्वसाधारण मनुष्यों जैसे मनुष्य ही हैं।

गुरुप्रसाद

गुरोः कृपाप्रसादेन ब्रह्मा–विष्णु–महेश्वराः।

सामर्थ्य तत्प्रसादेन केवलं गुरुसेवया।।

ये सभी प्रकरण यह प्रगट करते हैं कि यह कोई अव्यक्त सत्ता है। जो सभी देवों को प्रकाश देने वाली है और इसकी आराधना से ही मनुष्य परम श्रेय को प्राप्त हो सकता है। उपनिषदों में विशेषतः ब्रह्म विद्योपनिषद में सीधे शब्दों में स्पष्ट कहा गया है :–

वेदशास्त्राणि चान्यानि पदपांसुमिव त्यजेत्।।

गुरुभक्तिः सदा कुर्याछ्रेयसे भूयसे नरः।।

गुरुदेव हरिः साक्षान्नायां इत्यब्रवीच्छ्रुतिः।।

अर्थात्– वेदशास्त्र पुराणादि से विहित कर्म, जो कर्म उपासना आदि का विषय है उस सबको छोड़कर परम श्रेय लाभ करने के लिये मनुष्य को गुरुभक्ति करनी चाहिए। गुरुदेव का स्वरुप क्या है और उनकी शक्ति क्या है यह आगे की पंक्तियों में हम वर्णन करने का प्रयत्न कर रहे हैं। अधिकांश लोगों में इस बात का प्रचार है कि जहाँ पर गुरु भक्ति की चर्चायें चला करती हैं वहाँ से मनुष्य अपना नाक मुँह सिकोड़ कर पीछे हट जाया करते हैं और कहा करते हैं कि यह गुरुडम है, ढकोसला है, एक आदमी का प्रपंच है जो कुछ भोले–भाले व्यक्तियों को बहका करके अपने पीछे लगा लेता है और अपनी पूजा ईश्वर की तरह कराया करता है। ऐसा नहीं होना चाहिए, किन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। यह उन लोगों की भावना है जो सद्गुरु तत्व को बिलकुल नहीं जानते और उससे बिल्कुल परे हैं। श्वेताश्वर उपनिषद का लेख है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथादेवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिताह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन:।।

अर्थात्– मनुष्य की जैसी अपने इष्ट देव में श्रद्धा हो वैसी ही गुरुदेव में भी होनी चाहिए तभी उसको गुप्त रहस्यों का बोध हुआ करता है। वैसे श्रद्धा के मार्ग में साधारण तो नियम यही है कि उपदेष्टा गुरु के प्रति मनुष्य को ईश्वरीय बुद्धि रखनी ही चाहिये और उसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिये। शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार गुरुदेव का क्या स्वरूप है ? उसको कुछ प्रमाण सहित हम समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। योग–दर्शन में भगवान पतंजलि देव ने गुरु का व्याख्यान करते हुए सूत्र की रचना की।

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए भगवान व्यासदेव जी ने ये पंक्तियाँ लिखी है :–

पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते,
यत्रावच्छेदनार्थेन कालो नोपावर्त्तते,
स एष पूर्वेषामपि गुरुः। यथादस्य,
सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथाऽति,
क्रान्ति सर्गादिष्वपिप्रत्येतव्यः।

इसका अर्थ यह है कि वह नित्य शुद्धचित्त परमात्मा सृष्टि के शुरुआत से अब तक होने वाले गुरुओं का भी गुरु है वह अनादि सिद्ध है। उसकी ही एक सत्ता इस प्रकार की है जो काल की सीमा से आगे है, इसी सूत्र के भाष्य में–
भास्वती टीका में :–

पूर्वे गुरवो हिरण्यगर्भादयः कालेनाच्छिद्यन्ते।

अर्थात्– जिनकी सत्ता काल की सीमा के अन्तर्गत है वह अधिकृत सीमा है। सद्‌गुरु तत्व उससे भी आगे की वस्तु है। जिसकी कोई अवधि नहीं है, जिसका कोई अन्त नहीं है। वह है अनादि और अनन्त। शुद्ध चेतन है। वही सत्ता ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के अन्दर भी अपना प्रकाश रखती है। परमात्मा की सृष्टि में अनेक ब्रह्माण्ड हैं और उन अनेक ब्रह्माण्डों के अनेक ब्रह्मा, विष्णु, शिव है।

तत्र-तत्र चतुर्वक्ता ब्राह्मणो हरयो भवाः।
असंख्याताश्च रूद्राद्या, असंख्याता पितामहाः।
हरयश्चाप्य संख्याता, एक एव महेश्वरः।।

अर्थात्– अनन्त ब्रह्माण्डों के अन्दर असंख्य ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव हैं और वह सद्‌गुरु तत्व नित्य मुक्त परात्पर निर्गुण ब्रह्म ही है, उसमें से ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव का प्राकट्य है। एक महेश्वर के अन्दर ही ईश आदि सब देवता दिखलाई देते हैं।

ईशाद्या सकला देवाः दृश्यन्ते परमात्मनि।

अर्थात्– ईश आदि सभी देवता उस परमात्मा में इस प्रकार प्रकट होते हैं जिस प्रकार जल के अन्दर जल की लहरें पैदा होती हैं या सोने से सोने के जेवरात पैदा हो जाते हैं, अतः निर्णयात्मक सिद्धान्त की बात यह है :–

यत्रा वच्छेदनार्थे कालो नोपावर्तते स गुरुः।

अर्थात्– जिसका अन्त करने के लिए काल उपस्थित नहीं होता या दूसरे शब्दों में जो सत्ता काल के अधिकार से आगे है जिसका न कोई आदि है और न अन्त है, वही सत्ता सद्गुरु तत्व है जिसके विषय में हमारे शास्त्र कहते हैं :–

भयादस्य अग्निस्तपति, भयात्तपति सूर्यः।

भयादिन्दश्च वायुश्च, मृत्युः धावति पंचमः।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकौ नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

तमेव भान्तमनुभाति सर्व तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति।।

अर्थात्– वही एक सत्ता इस प्रकार की है जिसके भय से अग्नि तपती है, सूर्य तपता है, वायु और इन्द्र दौड़े– दौड़े फिरते हैं और काल हर समय आज्ञा में रहता है। वह स्वयं प्रकाशशील है, वहाँ न सूर्च चमकता है, न चन्द्रमा चमकता है, न बिजली का प्रकाश है अग्नि का तो कहना ही क्या ?

उसी के कारण यह सब विश्व प्रकाशित हो रहा है वही सत्ता परात्पर नित्य एवं नित्य पूज्य है। जिस शरीर को वह तत्व अपना अधिष्ठान स्वीकार करता है वह शरीर उसके तेज से प्रकाशित हो उठता है। नाम रूपसे वन्दना उस शरीर की की जाती है, जिसके अन्दर यह तत्व प्रकाशित होता है। कठोपनिषद का वचन है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमैवेष वृणुते तेन लभ्यस्त–स्यैष आत्मा विव्रुणुते तनुंस्वाम्।।

अर्थात्– यह आत्मा बहुत प्रवचन–बाजी से बुद्धिमानी से और केवल शास्त्र श्रवण से ही प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत जिसका वह स्वयं वरण करता है उसको मिलता है। और जिसे यह मिल जाता है उसके शरीर को यह अपना बना लेता है। इस मंत्र का सीधा सा अर्थ यही हुआ है।

जानत तुम्हहि तुम्हहिं होइ जाई।

अर्थात्– उस परमाला को पाकर उसमें विलीन होकर मनुष्य उसका ही रूप बन जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार ही नित्य चेतन–घन सच्चिदानन्द प्रभु जिसके शरीर को अपना अधिष्ठान बनाते हैं उसमें वे स्वयं ही होते हैं। अतः तात्विक बात तो यही है कि जिसके शरीर में आदि अन्त रहित उस निर्गुण सत्ता का प्रकाश हो जाता है वही गुरु पद वाच्य है। वैसे योग सिद्धान्त के अनुसार जो योगी कृतकृत्य हो चुका है जिसकी परम लक्ष्य तक पहुँचाने वाली

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ।।

योग योगेश्वर अनन्त श्री विभूषित चन्द्रमोहन जी महाराज

निर्वाण की वृत्ति ही शेष है, और वह भी वृत्ति हर समय अस्मि, अस्मि, अस्मि का ही जाप किया करती है। इसको निर्वाणोन्मुखी वृत्ति कहते हैं। जो योगी ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा हो करके कूट स्थिति में पहुँच गया है और जिसकी केवल यह निर्वाणोन्मुखी वृत्ति शेष है जो अपने आपको सर्व भूतस्थ देखता है और सर्व भूतों को अपने अन्दर देखता है उसकी दृष्टि में द्वैत खत्म हो गया है। भेदभाव की श्रृंखला टूट चुकी है।

जगदात्मा श्रीकृष्ण के कथानुसार:-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मानि।

ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।

इस प्रकार का व्यक्ति भी योग युक्त होने से गुरु पद वाच्य है। जिसके हृदय को अपना बना करके यह सत्ता प्रकाशित हो उठती है वही गुरु है। वही शक्तिपात कर सकता है और सिद्धियों का दाता है। इसलिये हमारे मन के अन्दर जो गुरु शब्द की अवहेलना रही है उसका कारण केवल एक ही होता है कि हम गुरु की सही परिभाषा नहीं जानते। पुराणों में गुरु की परिभाषा निम्नलिखित श्लाकों में वार्णित है:-

गु शब्द स्त्वन्धकारोऽस्ति, रू शब्दस्तन्निरोधकः।

अन्धकार निरोधित्वाद, गुरुरित्यभिधीयते।।

अर्थात्- 'गु' शब्द का अर्थ है अन्धकार और 'रु' शब्द का अर्थ है अन्धकार को नष्ट करने वाला। अन्धकार के वेग को रोक करके प्रकाश देने वाली शक्ति का नाम गुरु है और वह स्वयं प्रणव स्वरूप है। इसलिये साधक के लिये पुराणो में हमारे पूर्वाचार्यो ने आदेश दिया:-

यावत्कल्पांतको देह-स्तावद्देवि गुरं स्मरेत्।

गुरुलोपो न कर्तव्यः स्वछन्दो यदि भावयेत्।।

अर्थात्- कल्पभर रहने वाला शरीर भी प्राप्त हो जाय और कितनी ही ऊँची सामर्थ्य वाला हो जाये तो भी गुरुदेव का स्मरण करते रहना चाहिये। आजादी चाहने वाले व्यक्तियों को गुरु की उपेक्षा कभी न करनी चाहिए। तभी मनुष्य परम श्रेय का भागी हो सकता है।

सम्पादकीय–

योगेश्वर सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का 113 वाँ पावन प्राकट्य दिवस

आचार्य (डॉ०) रामलाल शर्मा

कभी–कभी धराधाम पर भगवान से तद्‌भाव युक्त महापुरुष अवतरण करते हैं तथा भगवान के संस्कारी जीवों का कल्याण करने के लिए योग के दिव्य ज्ञान का उपदेश कर उन्हें साधना के पथ पर लगाकर मुक्ति का अधिकारी बना देते हैं। ऐसे ही एक महापुरुष हरियाणा प्रान्त में एक छोटे से गाँव में अवतरित हुए है तो युगों–युगों तक भक्तों के लिए स्मरणीय रहेंगे। गाँव अलुपुर में इनका प्रादुर्भाव हुआ। अपने भावी पिता को अपने आगमन का संकेत दे दिया था और कहा था कि मेरी माँ को दिव्य रसायनों का सेवन कराना। अपने ध्यानयोग के बल से पूर्व जन्म का वृतान्त जान लिया था। नेपाल में गण्डकी नदी पर स्थित त्रिवेणी–धाम में रहकर बहुत समय तक समाधि का अभ्यास करते हुए शरीर के अत्यन्त वृद्ध होने पर अपनी इच्छा से उसका त्याग करके इस जन्म के पिता पूज्य पं. देवीराम जी के यहाँ नूतन शरीर धारण किया। शैशवावस्था से ही अखिलात्मा भगवान श्री कृष्ण चन्द्र का साक्षात्कार बना रहता था। नाना प्रकार की बाल–लीलाओं को करते हुए अत्यन्त आल्हादित रहा करते थे। इनके सौम्य व आनन्ददायिनी रूप को देखकर 'पिताश्री ' ने इनका नाम 'चन्द्रदत्त ' रखा। ये अपने भक्तों को शीतलता व शान्ति प्रदान करने वाले महापुरुष के रूप में विख्यात हुए।

पिता ने इन्हें बाल्यकाल से ही ऊँचे संस्कार दिये। पिताजी स्वयं अत्यन्त धार्मिक विचारों वाले तथा तपस्वी महापुरुष थे। इन्हें वे 4–5 वर्ष की अवस्था में ही गाँव के पास नहर पर ले जाकर स्नान कराते तथा अपने साथ ही गायत्री मंत्र के जाप से बिठा देते थे। प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था घर पर ही कर दी थी। तत्पश्चात् हरियाणा व पंजाब के कई विद्यालयों में अध्ययन कराते रहे। अन्त में ऊँची शिक्षा के लिए इन्हें पंजाब में लाहौर में आचार्य विश्व–बन्धु जी के संस्कृत महाविद्यालय में प्रवेश दिलाया। आचार्य जी बड़े ही विद्वान तथा तपस्वी धर्मात्मा महापुरुष थे। यहाँ पर कई वर्षों तक संस्कृत का अध्ययन किया। किन्तु भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी इन्हें बार–बार आकर्षित करते रहे। अन्ततोगत्वा वैराग्य की लहरें उमड़ने लगीं। विद्यालय छोड़कर श्री वृन्दावन धाम आ गये और भगवान के दिव्य लीला स्थलों व मन्दिरों के दर्शन करते हुए आनन्दित होते रहे। भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी की कृपा से अल्पायु में ही योग योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज के दर्शन प्राप्त किये और योग मार्ग में प्रवेश कर समाधि में लीन रहने लगे। ऋषिकेश आश्रम में रहते हुए वैराग्य के भाव दृढ़ होने लगे। अब आप प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्ति मार्ग में आरूढ़ होने का विचार बनाने लगे। किन्तु अन्तर्यामी श्री प्रभुजी ने इन्हें ठीक मौके पर जाने से रोक दिया। एक पत्र में उन्होंने लिखा था चिरंजीव ! हम बस्तियों में रहकर योग विद्या का प्रचार कर रहे हैं और तुम जंगलों में जाने की तैयारी कर रहे हो। यह तुम्हारे लिये उचित नहीं है। अभी हमने तुमसे बहुत काम लेना है। अतः हिमालय की ओर जाने का विचार

त्याग कर हमारी आज्ञाओं का पालन करो। अपने गुरुदेव की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए वनों में जाने का विचार त्याग दिया।

श्री प्रभुजी की आज्ञा से योग पिपासुओं को 'शक्तिपात दीक्षा प्रणाली ' से दीक्षा देने लगे। साधकों में अद्‌भुत रहस्यमयी क्रियायें स्वतः होने लगीं। ध्यान की ऊँची–ऊँची स्थितियाँ प्राप्त होने लगी। गुरुदेव शिष्यों का एक बड़ा झुण्ड इकट्ठा करने में रुचि नहीं रखते थे न ही प्रचार के माध्यमों से ख्याति चाहते थे। योग जिज्ञासु के धैर्य एवं श्रद्धा को परख कर कई वर्षों के बाद योग दीक्षा प्रदान करते थे। वस्तुतः अच्छे संस्कार युक्त साधक ही योग में आगे बढ़ पाते हैं। जिनके अच्छे संस्कार नहीं हैं शक्तिपात के बावजूद भी उनका पतन देखा गया। उर्वरक भूमि में बीज खाद डालने पर ही उत्तम फसल हो सकती है। ऊसर भूमि में डाला गया बीज अंकुरित नहीं हो पाता। मंद संस्कारी व्यक्ति कदाचित् गुरुचरणों तक पहुँच भी जाये तो वहाँ भी उसे माया के ही दर्शन होते हैं। फलतः श्रद्धा बन नहीं पाती। उत्कृष्ट संस्कारवान व्यक्ति को गुरुदेव स्वतः ही खींच लेते हैं, अपनी व्यापक सत्ता का परिचय देते हुए स्वप्न या ध्यान में दर्शन दे जाते हैं। साधक दिव्य दर्शन पाकर आनन्दित रहने लगता है धीरे–धीरे प्रभु का चरण शरण मिल जाता है। सद्‌गुरु चरण मिल जाने पर साधक आत्म विभोर हो उठता है जन्मों से उसे जिस वस्तु की तलाश थी वह उसे मिल जाता है। उसे अब सब कुछ मिल गया। '**भक्ति–मुक्ति प्रदातारम् तस्मै श्री गुरवे नमः** ' गुरुदेव तो सांसारिक भोग्य वस्तु भी प्रदान करते हैं उसे मुक्ति भी दे देते हैं। गुरुदेव जब 18–20 वर्ष के ही थे उस समय ही आपको चित्त निर्माण आदि सिद्धि स्वायत्त थी अगद्धधत्ता के प्रसंग में आपने स्वयं ही इस तथ्य का उद्‌घाटन किया है। श्री प्रभुजी ने गुरुदेव से एक बार कहा था– तुम्हें श्री वृन्दावन धाम के वास के समय ही 'प्रभु' ने सारी शक्तियाँ दे दी है अतः तुम योग विद्या के प्रचार में लग जाओ।

सन् 1938 में श्री महाप्रभु जी के तिरोधान के बाद श्री गुरुदेव जी श्री सिद्धगुफा सवांई धाम के दर्शनो के लिए आये। नितान्त एकान्त व सुरम्य स्थान को देखकर आनन्दित हो गये। स्थान की दिव्य छटा को देखकर आपने अपने योग प्रचार के कार्य के लिए इसे ही कार्यक्षेत्र चुन लिया। साधकों को शक्तिपात दीक्षा प्रदान की। रोगी व्यक्तियों को आपने नेति–धोति आदि षटकर्म क्रियाओं का अभ्यास कराया एवं जीवन तत्व साधन की क्रियाओं को कराना प्रारम्भ किया। इन क्रियाओं का अद्‌भुत लाभ मिलने लगा। सभी बीमार जो असाध्य से असाध्य भी आते गुरुदेव के संकल्प से स्वस्थ होकर ही घर लौटते थे।

ध्यान योग की दीक्षा संस्कारी साधक स्वयं चमत्कारिक तरीके से आकर लेते। इनमें रघुनन्दन प्रसाद टाट वाला का नाम उल्लेखनीय है। भगवान शिव की आज्ञा से व गुरुदेव से योग दीक्षा लेकर साधना में लगे। तीव्र तपश्चर्या एवं गुरु भक्ति के फलस्वरूप वाकसिद्धि एवं दिव्य दृष्टि जैसी सिद्धियाँ प्रकाशित होने लगी। इसी प्रकार से जम्मू–कश्मीर का ससार सिंह दिव्य दृष्टि सम्पन्न योगी हुए हैं। कई गुमनाम साधक कन्दराओं में साधना रत हैं। पाकिस्तान की सीमा पर गुलमर्ग–खिलमर्ग की तरफ गुरुदेव का एक शिष्य साधु रहा करता था। एक बार वाराणसी के गुरुभाई प्रमोद एडवोकेट और विन्ध्यवासिनी भाई उस क्षेत्र में घूमने लगे तो अचानक वह योगी इनके सामने आकर' जयगुरुदेव 'कहने लगा। यह आश्चर्य में पड़ गये। इस नितान्त जंगल में यह कौन हो सकता है। उस साधु ने कहा– " मैं भी योगिराज चन्द्रमोहन जी

महाराज का शिष्य हूँ। उनकी आज्ञा से साधना में लगा हुआ हूँ। वे मेरी हर प्रकार से रक्षा करते रहते हैं। उस साधु ने गदगद कण्ठ से गुरुदेव की शक्ति व महिमा का गुणगान किया।

आपने कई प्रान्तों में योग आश्रमों की स्थापना की। वहाँ पर निःशुल्क योग की क्रियायें, आसन, प्राणायाम आदि सिखाये जाते हैं और बीमार व्यक्ति साधन से स्वस्थ होकर योग की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। योग विद्या को गुरुदेव ने कभी बेचा नहीं अर्थात् कभी फीस नहीं ली गई। नेति आदि भी निःशुल्क दिये व सिखाये जाते थे। आज भी वही परम्परा चल रही है। 'सन्तु सन्तु निरामयाः' की भावना को गुरुदेव ने हमेशा सामने रखा है।

अपने देश में कई राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन हुए हैं उनमें कई बार इनकी अध्यक्षता रही है। 1986 में भी विश्व योग सम्मेलन में आप साधना-सत्र के अध्यक्ष थे। आप श्रोत्रीय ब्रह्मनिष्ठ योगी रहे हैं यही कारण है कि सैद्धान्तिक और अन्तरंग योग के ज्ञाता होने के कारण आपकी छवि व व्यक्तित्व अन्यों से विशिष्ट होती थी। योग के दुरूह सिद्धान्तों को आप बहुत ही सरल सुबोध भाषा में बताकर योग सिद्धान्तों को साधकों में कूट-कूट कर भर देते थे। योग के सिद्धान्तों को सरल ढंग से समझाने के लिए आपने योग सिद्धान्त नामक यौगिक पुस्तक के दो खण्ड प्रकाशित कराकर योग साधकों का बड़ा ही उपकार किया है। धन संग्रह का आपका कभी उद्देश्य नहीं रहा। चन्दा या फीस के आप हमेशा विरोधी थे। आप कहा करते थे - यहाँ आश्रम में जो कुछ भी है तुम लोगों का तुम लोगों के लिए ही है। हमारा इसमें कुछ नहीं है। हम तो निमित्त मात्र हैं श्री प्रभुजी ही करण कारण हैं।"

इस प्रकार से गुरुदेव निःस्पृह भाव से ही कर्म करते थे। अपने शिष्यों के लिए आप कल्पतरू हैं, उनके चरण तल में बैठकर जो भी कामना की जाती है सभी पूरी होती है। '**प्रणमामि गुरुम् गुरु कल्पतरूम्** ' कल्प वृक्ष रूप गुरुदेव को हम सदा ही नमस्कार करते हैं। आपके चिन्तन मात्र से जीवन की कठिनाइयाँ व दुःख दूर हो जाते हैं। आप अपने शिष्यों के अज्ञानग्रन्थि का भेदन करने वाले हैं इसलिए ही संसार में आप सर्वबन्ध है।

योग शब्द शक्ति का पर्याय है। जो अपने जीवन को योगमय बना लेता है उसी का जीवन दिव्य बन जाता है। तन, मन व बुद्धि की शुद्धि योग साधना से हुआ करती है। आत्म-साक्षात्कार का प्रमुख साधन योग को ही माना गया है। आज गुरुदेव के लाखों शिष्य/प्रशिष्य योग साधना में आरूढ़ हैं और उज्जवल व दिव्य जीवन की ओर अग्रसर हैं।

स्त्रियों के लिए गुरुदेव के उदात्त विचार-

स्त्रियों के विषय में आमतौर पर जनता में इस प्रकर का विचार है कि उनको किसी गुरु से दीक्षा प्राप्त नहीं करनी चाहिए। उसका पति ही उसका गुरु होता है। इसके अतिरिक्त और किसी से दीक्षा प्राप्त करना उपयुक्त नहीं है। लोगों की यह भावना केवल मात्र कपोल-कल्पित ही मालूम पड़ती है। हमारे प्राचीन इतिहास में इस प्रकार के बहुत से उपाख्यान हैं जिसमें यह भली प्रकार से साबित हो जाता है कि स्त्रियों को अपने कल्याण के लिए यदि सामर्थ्यवान गुरुदेव मिल जाये तो आध्यात्म विकास हेतु दीक्षा अवश्य प्राप्त करनी चाहिए। स्त्रियों के शरीर में और पुरुष के शरीर में अन्तर ही क्या है ? हाड़-माँस और चर्म आदि के द्वारा प्रकृति से एक पुतला निर्मित हुआ। लिंग भेद से हम उसे स्त्री कह दें या पुरुष कह दें। यह तो केवल मात्र मन

की विडम्बना है। वस्तुत: स्त्री और पुरुष में कोई भेद नहीं।

आत्मा न पुरुष है, न स्त्री है, न नपुंसक। केवल मात्र एक अमर ज्योति के रूप में विशुद्ध प्रकाश है जो हर शरीर को अपना अधिष्ठान बना करके चमकता रहता है। लिंग भेद से जिन नामों द्वारा उसको अभिव्यक्त किया जाता है उन्हीं नामों से वह व्यावहारिक होता रहता है। यदि उसको स्त्री कहा जाता है तो उसके लिए स्त्री लिंग के शब्दों का प्रयोग होता है और पुरुष कहा जाता है तो पुल्लिंग वाचक शब्दों का प्रयोग होता है। तत्वत: पुरुषों के अन्दर जो चेतना शक्ति है वही स्त्रियों के अन्दर है। पुरुषों के अन्दर जो मनन करने की शक्ति है, वही स्त्रियों के अन्दर है। पुरुष जिस प्रकार से गन्ध ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार से स्त्रियाँ भी गन्ध ग्रहण करती हैं। पुरुष जिस प्रकार से अपने आपको स्वतंत्रतापूर्वक सुखी रखना चाहता है, उसी प्रकार से स्त्रियाँ भी अपने आपको सुखी रखना चाहती हैं। जब स्त्रियों का खाना–पीना, सोना–बैठना, बोलना–चालना सब कुछ पुरुषों के समान ही है तो पुरुषों के समान अध्यात्म चिन्तन क्यों नहीं कर सकतीं ? क्या उनको आत्मोत्थान का अधिकार नहीं है, क्या वे लोग पुरुषों के समान ही आध्यात्मिक क्षेत्र में आकर अपने आप को पूर्णरूपेण विकसित नहीं कर सकतीं ? अवश्य कर सकती हैं आसन बन्ध मुद्रायें क्यों नहीं कर सकतीं ? क्या उन लोगों को बिना शिक्षा के अध्यात्म विद्या प्राप्त हो जायेगी और क्या वे उत्थान कर सकेंगी ? यद्यपि स्त्रियों को पूर्णरूपेण पतिव्रता और पुरुषों को पत्नीव्रत होना ही चाहिए, तभी गृहस्थ में पारस्परिक सुख हो सकता है अन्यथा नहीं हो सकता किन्तु पतिव्रत पालन में गुरुदेव बाधक नहीं होते, प्रत्युत पूर्णरूपेण सहायक रहते हैं क्योंकि गुरुदेव का स्वरूप मनुष्य के विकृत मन के अन्दर शुद्ध सात्विक प्रकाश को झिलमिला देता है।

इस प्रकार से मातृ–शक्ति के प्रति गुरुदेव का बड़ा ऊँचा भाव था और प्राय: कहा करते थे **" यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता "**।

करुणामूर्ति श्री गुरुदेव का 113 वाँ प्राकट्य दिवस श्री सिद्ध गुफा सवांई धाम सहित उनके अन्य आश्रमों में भी विजया दशमी पर्व बड़े धूम–धाम से मनाया जा रहा है। इस पावन बेला पर गुरुदेव के पावन चरणों में सभी शिष्यों का कोटि–कोटि नमन है।

इस पावन अवसर पर मैं सभी गुरु भाई–बहिनों को हार्दिक बधाई व शुभकामनाएँ देता हूँ।

योग प्रचार कार्यक्रम

नागपुर का योग प्रचार कार्यक्रम

15 से 18 नवम्बर 2022

पता निम्न है –

श्री हनुमान मन्दिर सांस्कृतिक भवन

अंबाबाई धर्मशाला, श्री महावरी मंदिर परिसर, भक्ति धार्म, आजाद चौक,

सदर– नागपुर (एफ. बी.बी. माल के पास) सम्पर्क : 9823666950

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

श्रीमद्भागवत में योग-परिचर्चा

डॉ. विजय सिंह

अवधूत शिरोमणि भगवान दत्तात्रेय महाराज यदु को अपने गुरु वायु के बारे में बताते हैं कि जैसे वायु विचरण करता रहता है, व कहीं भी आसक्त नहीं होता उसी प्रकार साधक भी आवश्यकता होने पर धर्म और स्वभाव वाले विषयों में जाय, परन्तु अपने लक्ष्य पर स्थिर रहे। द्वेष और गुणों में लिप्त न हो जाए। साधक अपने शरीर को नहीं, अपितु संचालक आत्मा में आश्रय लेकर सर्वथा निर्लिप्त रहे।

आकाश की तुलना कुछ- मात्रा में ब्रह्म से की जा सकती है। चल हो या अचल सब कुछ भिन्न-भिन्न होते हुये भी आकाश एक और अखण्ड है। चर-अचर सबमें ब्रह्म व्याप्त है। साधक को अपनी आत्मा अखण्ड अभेद रूप में देखना चाहिए। भूत, वर्तमान और भविष्य में न जाने कितने नाम-रूपों की सृष्टि प्रलय होता है परन्तु आत्मा के साथ उनका कोई संस्पर्श नहीं है।

जल स्वभाव से ही स्वच्छ, चिकना, मधुर और पवित्र करने वाला होता है। वैसा ही साधक को स्वभाव से ही शुद्ध, स्निग्ध मधुरभाषी और लोकपावन होना चाहिए। ऐसे पुरुष का दर्शन स्पर्श, नामोच्चार पवित्र करने वाला होता है।

अग्नि तेजस्वी और ज्योतिर्मय होती है। उसे कोई अपने तेज से दबा नहीं सकता वह सब कुछ खापीकर उसके दोषों से लिप्त नहीं होती वैसे ही साधक को इन्द्रियों से अपराभूत मन को वश में रखकर विषयों का संग होने पर भी उसका दोष अपने में न आने दे। काष्ठादि में अग्नि जैसे गुप्त और कहीं प्रकट रहती है उसी प्रकार साधक कहीं गुप्त और कही प्रकट हो जाए।

सर्व व्यापक आत्मा भी अपनी माया से रचे जगत में व्याप्त होने के कारण नाम-रूप से कोई सम्बंध न होने पर भी उन्हीं रूप में भासित होता है जैसे टेढ़े-मेढ़े लम्बे-मोटे लकड़ी में जलती आग टेढ़ी-मेढ़ी होते हुए भी उस रूप से वह अलिप्त है। चन्द्रमा से मैंने शिक्षा ग्रहण की, कि वह काल और गति के प्रभाव से उसकी कलायें घटती-बढ़ती रहती हैं, परन्तु चन्द्रमा तो चन्द्रमा ही है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त शरीर की अवस्थायें हैं, आत्मा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं।

सूर्य से हमने शिक्षा ग्रहण किया कि जैसे वे अपनी किरणों से पृथ्वी का जल खींचते और समय पर बरसा देते हैं। इसी प्रकार योगी पुरुष इन्द्रियों द्वारा समय पर विषयों का ग्रहण करता है और समय आने पर उनका त्याग भी कर देता है। उसी विषय में आसक्ति नहीं होती।

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः।। 50।।

भगवान दत्तात्रेय ने कहा-- राजन ! किसी के साथ अत्यन्त स्नेह नहीं करना चाहिये। ऐसा करने से बुद्धि अपना स्वतंत्र खोकर दीन हो जायेगी। राजन ! किसी जंगल में एक कबूतर पेड़ पर घोंसला बना कर रहता था। कबूतरी के साथ कई वर्ष घोंसले में रहा। उनमें परस्पर

आसक्ति थी। कबूतरी पर कबूतर का इतना प्रेम था कि वह कष्ट उठाकर उसकी कामनाएँ पूर्ण करता। उसी प्रकार कबूतरी भी पति की कामनायें पूर्ण करती। कबूतरी ने अण्डे दिये समय पर बच्चे निकले। वे दोनों उनके प्रेम में आनन्दमग्न रहते। एक दिन जब वे दोनों जंगल में चारा लाने गये थे। एक बहेलिया ने बच्चों को जाल में फाँस लिया। तभी कबूतर–कबूतरी वहाँ लौटे और अपने बच्चों को जाल में क्रंदन करते देख दु:खी हो वो दोनों भी स्वयं जाकर जाल में फँस गये। राजन ! बहेलिया बड़ा क्रूर था। वह प्रसन्न मन उन्हें लेकर चलता बना। साधक को आसक्ति से दूर रहना चाहिए।

यह मनुष्य शरीर मुक्ति का खुला द्वार है। जो कबूतर की तरह घर–गृहस्थी में ही फँसा हुआ है वह आरुढ़च्युत है। आठवें अध्याय में अजगर से लेकर पिंगला तक नौ गुरुओं की कथा भगवान दत्तात्रेय ने महाराज यदु को सुनाया है।

अवधूत शिरोमणि दत्तात्रेय जी कहते है – राजन! विषय सुख एवं दु:ख पूर्वकर्मानुसार मिलते है अत: साधक को इनके लिये इच्छा अथवा किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। प्रारब्धानुसार रुखा–सूखा अथवा स्वादिष्ट जो अधिक हो या थोड़ा उसे ही खाकर निर्वाह जीवन के लिए करे। अजगर के समान उदासीन रहे। अजगर के समान केवल प्रारब्ध से प्राप्त भोजन में ही संतुष्ट रहे। मैंने अजगर से यही शिक्षा ग्रहण की है।

समुद्र–साधक को ज्वार–भाटे और तरंग रहित समुद्र सा शान्त रहना चाहिए। अथाह, अपार और असीम, गम्भीर भाव में होना चाहिए। समुद्र वर्षाकालीन नदियों के जल से न तो बढ़ता है और न गृष्म–काल में घटता ही है अत: सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति से न प्रसन्न हो और न उनके नष्ट होने से दु:खी हो। पतिंगा– से हमने यह शिक्षा ग्रहण किया कि रूप पर मोहित हो आग में कूद कर जल मरता है। साधक को स्त्री सौन्दर्य पर मोहित नहीं होना चाहिए अन्यथा नरक में गिरकर अपना सत्यानाश कर लेगा। जिसकी चित्त–वृत्ति स्त्री के उपभोग के लिए लालायित रहता है, वह अपनी विवेक बुद्धि खोकर पतिंगे के समान नष्ट हो जाता है।

भौंरें– संन्यासी को चाहिए वह भौंरें की तरह जीवन निर्वाह करे। गृहस्थों के घरों से रोटी के कुछ टुकड़े कई घरों से माँग ले। भौंरें सभी पुष्पों से चाहे छोटे हों या बड़े उनका सार ग्रहण करलेते हैं। ऐसे ही साधक को छोटे–बड़े सभी शास्त्रों के सार ग्रहण कर लेना चाहिए।

मधुमक्खी से हमने यह शिक्षा लिया कि शायंकाल अथवा दूसरे दिन के लिये भिक्षा संग्रह नहीं करना चाहिए। जैसे मधुमक्खीयाँ अपने संग्रह के साथ जीवन भी गवाँ बैठती है। उसी प्रकार संग्रह करने वाला साधक घोर विपत्ति में पड़ जाता है।

हाँथी– हँथनी के अंग–संग से स्वयं बँध जाता है अत: विवेकी पुरुष किसी भी स्त्री को भोग्यरूप से स्वीकार न करे अन्यथा उसकी गति हाथी की तरह ही होगा।

मधु निकालने वाला पुरुष से हमने शिक्षा लिया कि संसारी पुरुष जो लोभी हैं बड़ी कठिनाई से धन का संचय करते हैं, उस संचित धन को भी कोई अन्य पुरुष भोगता है जैसे कठिनाई से एकत्र किया मधुमक्खियों का मधु मधु निकालने वाला निकाल ले जाता है।

हरिन से हमने शिक्षा लिया कि संन्यासी को कभी विषयगीत नहीं सुनने चाहिये। हरिन व्याध के गीत से मोहित हो कर बँध जाता है।

मछली– स्वाद का लोभी मनुष्य का मन जीभ के वश में होकर मृत्यु को पाता है जैसे

काँटे में लगे चारे के लोभ में मछली फँसकर मारी जाती है। रसेन्दिय को जिसने वश में कर लिया तो थोड़े प्रयास से सभी इन्द्रियाँ वश में हो जाती है।

भगवान दत्तात्रेय कहते है– राजन ! मिथिला में एक पिंगला नाम की वेश्या रहती थी। वह रूपवती एक रात्रि सृंगार कर घर के बाहर दरवाजे पर आने–जाने वाले धनिकों को आकर्षित करने हेतु खड़ी हुई। राजन ! धन की आशा में वह हर किसी को अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा में लगी रही परन्तु उस दिन कोई उसके पास न आया। वह निराशा से ग्रस्त दुःख बुद्धि हो गये चिन्ता के कारण वैराग्य भावना जाग्रत हुई। राजन ! जिसे संसारिक बखेड़ों से वैराग्य नहीं हुआ वह शरीर के बंधन से कभी मुक्त नहीं हो सकता।

पिंगला ने उस समय एक गीत गाया था। हाय ! मैं इन्द्रियों के वश में हो गई। मोह का विस्तार तो देखो इन दुष्ट पुरुषों से विषयसुख की लालसा करती हूँ। मेरे अन्तः में बसे मेरे स्वामी भगवान को भुला दिया। जगत के पुरुष अनित्य हैं और वे नित्य हैं। अहो ! मैं अपने शरीर को बेच दिया। लम्पट, लोभी इसे खरीद लिये। मैं अति मूर्ख हूँ, इस शरीर से धन और रति–सुर चाहती रही। मल, मुत्र से भरे इस शरीर से अब तक प्रेम करती रही। अब मैं उन परमपुरुष की अभिलाषिनी हूँ। जो समस्त प्राणियों के सुहृद, हितैषी और स्वामी आत्मा हूँ। मेरा अवश्य कोई शुभ कर्म प्रकट हुआ है जो मुझे विषयों से वैराग्य जगा है। वैराग्य से ही बन्धन काट कर लोग शांति प्राप्त करते हैं। पिंगला ऐसा निश्चय करके लालसाओं का परित्याग करके शांति से पलंग पर जाकर सो गई। नौवें अध्याय में क्रुर से लेकर भृङ्गी तक सात गुरुओं के बारे में भगवान दत्तात्रेय ने राजा यदु को कथा सुनायी है।

एक क्रुर पक्षी अपनी चोंच में मांस का टुकड़ा लिये हुये था। उससे बलवान पक्षी उसे घेर कर मांस छीनने हेतु चोंच मारने लगे। जब क्रूर ने ज्योंही टुकड़ा फेंक दिया उसे सुख मिला। संग्रह सारे विपत्ति का जड़ है अतः विवेकी पुरुष अकिंचन भाव से रहता सुख स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति करता है।

बालक से मानापमान से रहित होने की शिक्षा ग्रहण किया। भोला–भाला नन्हा–बालक और दूसरा गुणातीत हुआ पुरुष ही निश्चिन्त और परमानन्द में मग्न रहते है।

कुमारी कन्या के घर लोग उसे वरण हेतु आये। वह अकेली थी अतः आतिथ्य सत्कार उसने ही किया। भोज कराने हेतु घर के एकान्त में धान कूटने लगी। कलाई में पड़ी चूड़ियाँ बज उठने से उसे बड़ी लज्जा हुई। उसने चूड़ियाँ बज उठने से उसे बड़ी लज्जा हुई। उसने चूड़ियाँ निकाल कर केवल दो–दो चुड़ियाँ पहन कर धान कूटने लगी। अब भी चूड़ियाँ टकराकर आवाज कर रहीं थीं उसने एक–एक चूड़ियाँ निकाल दीं अब कोई आवाज नहीं थी। मैंने यह देखकर यह शिक्षा ग्रहण किया कि अकेले विच कलह रहित है। जहाँ दो भी हों तो बातचीत का व्यवधान रहता ही रहता है। अरति जन् संसदीय।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

योगी अगड़धत्ता की कहानी
महासिद्ध गुरुदेव की जुबानी

जगदीश राए बंसल 'अधम', मो. 9212434003

अखिल लोक पावन भगवान श्री कृष्ण की सेवित बृज भूमि में घूमते हुए मुझे (योग सम्राट गुरु देव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज) एक महात्मा श्री किशोरी दास भण्डारी जी ने बतलाया कि यहाँ से थोड़ी दूर पर पत्थर पर बैठे एक महात्मा जी " सिद्ध पुरुष हैं, महात्मा जी बड़े जटा जूट हैं। श्री भण्डारी जी के मुख से ये बातें सुन कर मेरा उन महात्मा जी से धीरे–धीरे सम्पर्क बढ़ने लगा। उन वीतराग महात्मा का नाम है, अवधूत योगी अगड़धत्ता। ये अगड़धत्ता जी देखने में अनपढ़ दिखाई देते थे। परन्तु अन्तरजगत में उनका बहुत ऊँचा प्रवेश था। उनका मुख मण्डल अत्यन्त तेजस्वी–देदीप्य मान था। साधुओं जैसा कोई आडम्बर उनके शरीर पर दिखाई नहीं देता था। वे किसी से कोई बात चीत नहीं किया करते थे। वे अपने तन पर तीन जगह एक–एक कम्बल लपेटे रहते थे। मैं गह्वर वन में हर समय उनके साथ रहा, परन्तु कभी उनको खाते–पीते नहीं देखा। यदि कोई उनसे खाने–पीने का अनुरोध करता तो, प्रथम तो कोई उत्तर ही नहीं देते थे और किसी के दुराग्रह करने पर कड़े शब्दों ताड़ना देते थे कि क्यों रे ! तुझे यह क्या सूझी है ? क्या तू मुझे मारेगा ? उनके साथ रहते इस प्रकार के शब्द मैंने कई बार सुने। एक दिन अवसर पा कर मैंने पूछा महात्मा जी, आप यह क्या कहा करते है ? किसी व्यक्ति के द्वारा खिलाने–पिलाने से क्या मनुष्य मर जाया करता है ? हमारी जिज्ञासा शान्त करने के लिए उन्होंने बतलाया कि 'हाँ भाई! संसार में दो ही प्रकार के व्यक्ति मरते हैं, जो खाता है वह मरता है और जो सोता है वह मरता है। जो संसार में आ कर खाना–पीना और सोना त्याग दे वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर अमर हो जाता है। उस समय तो यह बात हमारी समझ में नहीं आती थी, परन्तु कालान्तर में ज्यों–ज्यों इस मार्ग में हमारा प्रवेश अधिक हुआ, तब–तब उन बातों की सार्थकता को मैंने समझा। वस्तुतः तत्व विजयी ही ऐसे पुरुष हुआ करते थे जो हिमालय पर्वत में आज भी अनेक ऐसे तत्व विजयी– सिद्ध महात्मा सहस्त्रों वर्षों से बैठे हुए हैं, जो न कुछ खाते हैं और न मल मूत्र का त्याग करते हैं। इसी प्रकार हम अपने बच्चों को संयमी रहने को कहते हैं। यदि साधक संयमी है, सदाचारी है, खान–पान ही है, मिताहारी है, तो उसका मन एकाग्र हो जाता है। अपने बलाबल को देख कर भोजन करना चाहिए। साधक का सोना– जागना समय पर है, भूख–प्यास, सर्दी–गर्मी सहन करता है तो उसका मन एकाग्र हो जाता है। उसका प्रारब्ध बदल जाया करता है। भगवान श्री कृष्ण गीता में संकेत करते हैं :–

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।

अर्थात् दुखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार–विहार करने वाले का और यथा योग्य सोने–जागने वाले का ही सिद्ध होता है। मुझे इस अवधूत महाराज के साथ रह

कर अनेक अलौकिक कार्य देखने में आए जैसे :–

एक बार हम वृन्दावन में श्री बाँके बिहारी जी मन्दिर के चबूतरे पर आमने सामने लेटे हुए थे, तब मन्दिर के थोड़ी दूर पर किसी दुकान से कोई रोगी दारूण दुख से चिल्ला रहा था। इससे हमारी एकाग्रता में विघ्न पड़ रहा था। मैंने भी अवधूत जी महाराज से कहा, महात्मा जी आप उसका रोना बंद क्यों नहीं कर देते ? मेरे कहने पर महात्मा जी ने वहीं से फूक मार दी। उसके मुख से फैंकी गई वायु बिजली के समान चमक कर उस रोगी पर लगी और वह तत्काल शान्त हो कर सो गया। प्रातः काल उस दुकान दार से पूछा गया कि उस रोगी को क्या कष्ट था ? उस दुकान दार ने बतलाया कि भाई को तीव्र उदर पीड़ा थी,पता नहीं रात लगभग बारह बजे कैसे ठीक हो गया और फिर वह सो गया। यह था महात्मा जी का अलौकिक कार्य।

अवधूत योगी अगड़धत्ता जी कुछ विचित्र प्रकार के कार्य किया करते थे, जिनका रहस्य मेरी समझ में नहीं आया करता था। एक बार अवधूत महाराज ने वृन्दावन के दुकान दारों से जल मांगना आरम्भ किया। जो दुकान दार जल उपलब्ध कर देता तो बाबा जी थोड़ा सा जल पीकर अगली दुकान पर चल देते। इस प्रकार करते–करते वे रेतिया बाजार में एक हलवाई की दुकान पर पहुँचे, कहने लगे– क्यों रे ! तेरी दुकान में ठण्डा जल है ? हलवाई ने महात्मा जी की अवहेलना करते हुए, बड़े रूखे और कड़े शब्दों में कहा, " चल यहाँ से , तेरे जैसे बहुत देखें है। बड़ा आया कहीं से ठण्डा जल पीने वाला। " यह ताड़ना पा कर अवधूत महाराज जी बोले, तू कहता है– तेरे जैसे बहुत देखे, सो और कोई नहीं देखा होगा, हम ही देखे हैं। तेरी दुकान खूब चलती है, तेरे पास पैसा काफी है, इसलिए तू अन्धा हो रहा है, जा– आज से तेरी दुकान में मक्खी ही मक्खी हो जाएगी.....। उस दिन के बाद मैंने स्वयं उस दुकान पर महात्मा जी के वचनों का प्रत्यक्ष प्रभाव देखा। परिणामतः उस हलवाई की आर्थिक स्थिती बिल्कुल बिगड़ गई।

(याद रखो– पैर में मोच और छोटी सोच, इन्सान को कभी आगे नहीं बढ़ने देती)

लगभग एक डेढ़ माह पश्चात जब हम उधर से निकल रहे थे तब वे हलवाई हमसे कहने लगा कि– महाराज जी ! उस दिन आपके साथ जो महात्मा जी थे, वे मेरी दुकान में मक्खी ही मक्खी होने का श्राप दे गए हैं, उस दिन से हमारी दुकान ठप पड़ी है। कृपया करके मुझे उनसे क्षमा दिलवाईए। मुझ से अपराध हो गया, मैंने महात्मा को अपशब्द कह दिए। श्रावण मास में हमें हजारों की आय हो जाया करती थी, हमारे भाग्य फूट गए– दुर्दशा हो गई। महाराज जी किसी तरह क्षमा प्रदान करा दीजिए।

जिन्दगी रंगीली है- हमें रंगना नहीं आया।
रस हर चीज में है- हमें पीना नहीं आया।।
हकीकत है दुनियाँ में जिसको जीना आ गया ।
भक्ति का प्याला उसको पीना आ गया।।

मुझे उस हलवाई दुकानदार पर दया आ गई। मैंने योगी अगड़धत्ता जी से कहा कि अब उस बेचारे हलवाई को क्षमा कर दीजिए मगर महात्मा जी ने साफ मना कर दिया, बोले उसने बहुत महात्माओं का अपमान किया है, उसे दण्ड देने ही हमारा दुकान–दुकान पर जल मांगने

का प्रयोजन था। कई मास उस दुकानदार की यही दुर्दशा रही। अन्ततः एक दिन वह हलवाई अत्यन्त आर्तभाव से अवधूत जी के पैरों में आ गिरा और गिड़–गिड़ा कर क्षमा याचना करने लगा। महात्मा जी को कुछ दया आ गई और कह दिया, जा– अब क्षमा कर देता हूँ। दुबारा किसी साधु का अपमान नहीं करना। अब तू इसी समय गौशाला में जा कर सौ रू. देआ। उसी दिन से उसकी दुकान पूर्ववत विकास की स्थिति में पहुँच गई।

अवधूत जी कभी–कभी अभिमान की बातें भी कह देते थे कि सृष्टि का सृजन, पालन एवं विनाश का क्रम हमारे द्वारा ही चल रहा है। वे किसी साधु–महात्मा की भी परवाह नहीं करते थे। हमारे सद्‌गुरु देव भगवान योग–योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज का उनके सामने कई बार वर्णन आता था, परन्तु वे बड़े उपेक्षित ढंग से सुनकर चुप हो जाया करते थे। एक दिन उन्होंने बड़े अहंकारी शब्दों से कहा, " भाई ब्रह्मचारी– हम चाहें तो तुम्हारे गुरु जी को भी अभी यहाँ खींच लें। "

मन की मैल मिटी नहीं- सुधरा नहीं आचार।
अहंकार की लीख पर- पतित हैं लाचार।।

पहले तो हम चुप रहे, परन्तु बार–बार उनके अहंकार भरे शब्द दोहराने पर हमारे मन में कुछ तरंग आ गई। श्री प्रभु जी की सर्व समर्थता का स्मरण कर मेरा मन उल्लास से भर गया। मैंने भी उनसे कह दिया, " यदि आप में शक्ति है तो मेरे गुरु देव जी को खींच कर दिखला ही दीजिए। " उन्होंने कहा, " बोलो सूक्ष्म रूप से या स्थूल रूप से ? " निरक्षर से दिखने वाले अवधूत बाबा के ऐसे शुद्ध हिन्दी के शब्दों को सुन कर हमें बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने आश्चर्य को दबा कर, उसकी उस अभिमान भरी उक्ति के प्रत्युतर में हमने कह दिया कि सूक्ष्म रूप से क्या खींचना ? स्थूल रूप में ही खींच कर दिखाइए। किन्तु स्थूल रूप से खींचने को वे राजी नहीं हुए तो मैंने कह ही दिया– " अच्छा सूक्ष्म से ही सही। "

श्री वृन्दावन के कोसी घाट के सामने श्री यमुना जी की पवित्र बालुका में वह महात्मा और मैं, दोनों ही ध्यानस्थ हो गए। वह प्रथम अवसर था जब उस गवार से दिखने वाले अवधूत को अपने सूक्ष्म शरीर के चक्र बनाते मैंने देखा। वे अपने निर्माण चित के द्वारा ऋषिकेश चले। उनके साथ–साथ मेरा भी एक निर्माण चित था, जो उसकी वृत्ति देखता देखता जाता था। ऋषिकेश आश्रम पहुँचने पर साक्षात पर ब्रह्म–आनन्दकन्द श्री प्रभु जी के अखण्ड मण्डलाकार सर्व व्यापक तेज के दर्शन कर अवधूत जी के निर्माणकाय चित का, श्री प्रभु जी के सन्मुख जाना बहुत कठिन हो गया। फिर भी यथा– तथा कुछ साहस करके वह आगे बढ़ ही गए और फारसी भाषा में कुछ प्रश्न पूछे। श्री प्रभु जी ने उसके सभी प्रश्नों के उत्तर फारसी भाषा में ही दिये। अन्त में जगत नियन्ता, अनन्त श्री प्रभु जी ने उसको ताड़ना दी कि " लगाओ इसको पाँच जूते। यह हमें खींचने की इच्छा करता है। " श्री प्रभु जी के श्री मुखार बिन्द से निकले ऐसे शब्दों को सुन कर वह अवधूत योगी वहाँ क्षण भर भी न ठहर सका और वृन्दावन आ गए। हमारा निर्माण काय चित भी उसके साथ–साथ वृन्दावन आ गया।

ये योगी व्यर्थ ही अहं की डकारें लेने लगे हैं।

ये अपनी ही जमीं पै बबूल बोने लगे हैं।।

शंकर भगवान के आभूषण चन्द्रमा चारों ओर अपनी चान्दनी बिखेर रहे थे। यमुना जी की पवित्र बालुका में बैठे ध्यानस्थ महात्मा अट्टहास करते अपने ध्यान से उठे अरे भाई, मरवा डाले होते, आज तो मरवा डाले होते। मैं भी ध्यान से उठा और श्री प्रभुजी की परात्पर शक्ति एवं उनकी अलौकिक लीला से मेरा हृदय आल्हादित हो रहा था। उसी लहर में, मैंने उनसे कहा, " महात्मा जी, आप तो कहते थे कि तुम्हारे गुरु को हम खींच लेंगे, किन्तु क्या हुआ जो तुम स्वयं ही खिंच गए? "

सुधा रस का प्याला गर तुझे पीना आ जाता।

पीते पीते इतना पीते कि उस दर का किनारा आ जाता।।

हमारे मुख से ऐसे शब्द सुनते ही बाबा जी बिगड़ गए, बोले, " हमने तुझ से यह कब कहा था कि हम महाप्रभु जी को खींच लेंगे ? हमने तो समझा था कि होगा कोई सधुवा–अधुवा। तुम्हें पहले ही बता देना चाहिए था कि वह सर्व शक्ति मान महाप्रभु जी हैं। " इस प्रकार कुछ–कुछ कह कर उल्टा हमें ही धमकाने लगे।

उपर्युक्त घटना के पश्चात उस अवधूत महात्मा जी की श्री प्रभु जी के श्री चरणों में अनन्य भक्ति हो गई। परिणामतः वह कई बार नंगे पैरों श्री प्रभु जी के दर्शनार्थ ऋषिकेश गए और अपने कृत दु.साहस की बार–बार क्षमा याचना की। मन ही मन सोचते कि–

दरबार हजारों देखे हैं, पर ऐसा कोई दरबार नहीं।

वह दिल नहीं पत्थर है, जिस दिल में प्रभु प्यार नहीं।।

पश्चात जब–जब बाबा जी श्री प्रभु जी के दर्शनार्थ जाते तो हाथ जोड़ कर बैठ जाते। श्री प्रभु जी उन्हें देख कर थोड़ा सा मुस्का जाया करते थे और किसी आश्रम वासी से कह कर उन्हें प्रसाद दिला दिया करते थे। प्रसाद पाते ही अवधूत जी आश्रम से लौट जाया करते थे।

(क्रमशः)

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

योग को अपनायें : दिव्य जीवन पायें

दिनेश चन्द्र शर्मा

योग भारत की प्राचीन विद्या है। योगावतार प्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने इस लुप्त प्राय: जीवन दायिनी योग विद्या का पुनरूद्धार किया। श्री प्रभुजी के सत्संकल्प से आज दुनिया भर में लोग योग को अपना रहें हैं। योग सम्मेलन, विश्व योग दिवस जैसे अनेक आयोजन व्यापक स्तर पर हो रहे हैं। योग प्रशिक्षण केन्द्र, योग चिकित्सा एवं अनुसंधान केन्द्र बड़े स्तर पर खुल रहे हैं। शिक्षण संस्थानों में योग टीचर नियुक्त हो रहे हैं। योग के क्षेत्र में रोजगार के अनन्त अवसर उपलब्ध हो रहे हैं।

दूरदर्शन, टी.वी. रेडियो आदि इलैक्ट्रानिक मीडिया, प्रिन्ट मीडिया, सोशल मीडिया आदि विभिन्न संचार माध्यमों में योग पर व्यापक स्तर पर चर्चा हो रही है। ऐलोपेथी चिकित्सा के विकल्प के रूप में योग विज्ञान व नैचुरोपैथी काफी लोक प्रिय हो रहे हैं। योग की महत्ता अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित हुई है।

हमारेगुरु भाईयों को स्मरण है कि ऋषिकेश में वार्षिक उत्सव पर गुरुदेव योगीराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के निर्देशन में प्रभात फेरी निकलती थी। प्रभात फेरी में यह उद्‌घोष गीत भी उत्साह और उमंग के साथ गाया जाता था– " उठो सोनें वालो जगाने वाले आ गये, योग का डंका बजाने वाले आ गये...। " श्री प्रभु जी और गुरुदेव जी महाराज के संकल्प से आज पूरी दुनियाँ में योग का डंका बज रहा है।

योग दर्शन, भारतीय षड दर्शनों में एक है। महर्षि पतंजलि जी महाराज ने अष्टांग योग पर ग्रन्थ की रचना कर मानव पर उपकार किया है।

योगेन चित्तस्थ पदेन वाचां, मलम् शरीरस्थ च वैद्यकेन, योऽया करोत प्रवरं मुनीनां पतंजलि प्रांजलि रान तोस्मि " अर्थात् योग से चित्त का मल, व्याकरण से भाषा व वाणी का मल–दोष और वैद्यक शास्त्र से शरीर का मल दूर करने वाले पतंजलि महाराज को नमन करता हूँ।

पतंजलि योग दर्शन के अनुसार चित्त वृत्तियों का निरोध या नियन्त्रण योग है अर्थात् अपनी चित्त–वृत्तियों को एकाग्र करते हुए मन की निस्पंद अवस्था को प्राप्त करने के साधनों का उन्होंने वर्णन किया है। योग के आठ अंग बताये हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि।

यम के अन्तर्गत मन सम्बन्धी संयम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह गुणों का समावेश होता है।

नियमों में शारीरिक संयम– शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्राणिधान आते हैं।

विभिन्न प्रकार के योग–आसनों द्वारा शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करते हुए उसे अधिक

स्वस्थ, बलशाली और निरोग बनाया जा सकता है। स्वस्थ शरीर द्वारा ही मन की स्वस्थ स्थिति प्राप्त हो सकती है।

श्वास–प्रश्वास आदि पर नियन्त्रण प्राणायाम के अन्तर्गत आता है। प्रत्याहार में इन्द्रियों को बाहरी विषयों से हटाते हुए अन्तर्मुखी किया जाता है। ध्यान व धारणा में उसे अधिक से अधिक एकाग्र किया जाता है। ध्यान में एक ही विषय वस्तु पर मन को एकाग्र किया जाता है और चित्त वृत्तियों का लोप होकर मन स्थिर व तैल धारावत निस्पन्द अवस्था को प्राप्त होता है, जहाँ आत्मा का परमात्मा से मिलन होता है वह समाधि की पूर्ण अवस्था कही गई है। योग शब्द संस्कृत की युज् धातु से बना है। उसका अर्थ होता है– जोड़ना व मिलन अर्थात् जीवात्मा का परमात्मा से मिलन है।

गीता में कहा गया है – " **योग: कर्मसु कौशलम्** " अर्थात् किसी कार्य को कुशलता पूर्वक करना योग है। यह मन की एकाग्रता व सन्तुलन और शरीर स्वस्थ होने पर सम्भव हो सकता है। योग मन और शरीर दोनों को स्वस्थ रखने का उपाय है। अल्प मार्ग दर्शन से योग अभ्यास प्रारम्भ किया जा सकता है। परन्तु किसी योग प्रशिक्षण केन्द्र में या अनुभवी योगी या योग शिक्षक के निर्देशन में योग– अभ्यास करना हितकारी और उचित है।

योग आसनों के अभ्यास से व्यक्ति उत्कृष्ट शारीरिक सामर्थ्य का लाभ पा सकता है। बाल, युवा, वृद्ध सभी इनका अभ्यास करके लाभ उठा सकते हैं। अनेक स्थानों पर योग के द्वारा असाध्य रोगों के उपचार हेतु केन्द्र कार्य रत हैं। समय–समय पर विभिन्न संस्थानों द्वारा योग चिकित्सा शिविरों के आयोजन हो रहे हैं।

योग आसनों से शरीर में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो सकते हैं। योगासनों से पिट्युटरी, थाइराइड आदि अन्त: स्रावी ग्रन्थियों (एण्डोक्राइन ग्लेन्डस) के स्रावों पर आवश्यक सन्तुलन बनाया जा सकता है। योग आसनों के अभ्यास से रक्त संचालन की प्रक्रिया में अपेक्षित परिवर्तन की सम्भावना है जैसे कि वज्रासन से कमर के ऊपर रक्त संचार ज्यादा होता है। आसनों से स्नायुओं पर भी प्रभाव होता है।

योग शास्त्रों में अनेक योग आसनों का वर्णन है। वर्तमान कलिकाल में लोगों की शरीर की स्थिति, खानपान, रहन–सहन, परिवेश आदि को देखते हुए योगावतार प्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने " जीवन तत्व साधन " का आविष्कार कर मानव मात्र को अनुपम उपहार दिया है। जीवन तत्व साधन की क्रियाओं में सभी आसनों का समुच्चय है।

साधक योग को दिनचर्या का आवश्यक अंग बनाकर नियमित और नियमानुवर्तिता के साथ योग अभ्यास कर जीवन को कृतार्थ करें। व्यक्ति के सम्पूर्ण एवं सर्वांगीण विकास अर्थात् शारीरिक , मानसिक, बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार की उन्नति के लिए योग अत्यन्त लाभकारी है।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

मंत्र- जप की महिमा एवं जप-विधि

अन्नु राम यादव

प्रात: स्मरणीय योग योगेश्वर द्वय की करुणा कृपा से मैंने ग्रन्थों में जो पढ़ा है और संतों से जो सुना है, उन उपदेशों से एक–एक मोती चुनकर लेख रूपी माला आप सभी भाई–बहनों के समक्ष प्रस्तुत है। प्रस्तुत लेख का मुख्य उद्देश यही है कि जो नये साधक हैं उनकी अपने गुरुदेव एवं उनके द्वारा प्रदत्त मंत्र के प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्तरोत्तर बढ़े जिससे वे अपने कल्याण पथ पर निर्बाध गति से आगे बढ़ते जाएँ। मंत्र–जप सर्वसाधारण के लिए एक ऐसा सुगम एवं अत्यन्त प्रभावशाली मार्ग है जिसके सहारे योग की अधिकतम् ऊँचाई तक पहुँचा जा सकता है। इसीलिए हमारे आप के प्राण–धन सद्गुरुदेव महाराज मंत्र–जप पर विशेष बल दिया करते थे।

श्री गुरुदेव एवं गुरु–मंत्र के महत्व पर प्रकाश डालते हुए स्वामी मुक्तानन्द परमहंस ने कहा है कि – " जो मंत्र तुम्हें श्री गुरु से मिला है उसे तुम पूर्ण श्रद्धा के साथ, परम सत्य निष्ठा के साथ, उसे प्रत्यक्ष भगवान समझ कर जपो। मंत्र, गुरु, शक्ति और तुम एक ही हो इस बात को मत भूलो। मंत्र–जप करने वाले साधक की रक्षा मंत्र हर प्रकार से करता है। अत: मंत्र को आत्म–सात् करके जपो। सिद्ध गुरु के प्रसाद रूप मंत्र को सदैव जपते रहो। मंत्र के साथ श्री गुरु ने तुम्हारे अन्दर प्रवेश किया है। मंत्र–जप में तीन शक्तियाँ एक साथ काम करती हैं– मंत्र की शक्ति, गुरुदेव की शक्ति एवं मंत्र के देवता की शक्ति। मंत्र में श्री गुरु मूर्तिमान होकर विद्यमान रहते हैं। इसलिए तुम चैतन्य रूप मंत्र को जपते ही रहो। प्रेम से गाते रहो और स्नेह से ध्याते रहो। तुरन्त ही शक्ति विद्युत वेग से कार्य करेगी। श्री गुरु द्वारा दिये गये मंत्र को प्रेम से प्राण–अपान में मिला कर जपो। फिर बिना देर के क्रियायें अपने आप होंगी। साधना अपने आप होगी। विश्वास मानों दर्शन अपने आप होगा। श्री गुरु तुम्हारे सर्व अंगों में पसरकर तुम्हें अपना जैसा बना देंगे। मैं तुम्हें एक बार फिर याद दिलाता हूँ – मंत्र का जप सदैव करते रहो। ऐसा करते – करते ध्यानावस्था प्राप्त हो जायेगी।"

हमारे गुरुदेव एवं अन्य सन्तों ने भी बार–बार यही उपदेश दिया है कि ध्यान में गहरे उतरने का मूल पाठ है– मंत्र–जप। मंत्र–जप मन को एकाग्र करता है, निर्विषय बनाता है, निर्मल करता है– फिर ध्यान स्वत: ही हो जाता है। लोग अनावश्यक बहुत कुछ करते है परन्तु जप नहीं करते , मंत्र–जप में चित्त नहीं लगाते और फिर कहते हैं– ध्यान लगता ही नहीं। साधक को भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि मंत्र–जप ध्यान का हृदय है और इसी से गहरे ध्यान में उतरना होता है। सब प्रकार की साधनाओं का प्राण जप है। एक महर्षि का कहना है– मानव कोई दूसरा कर्म करे अथवा न करे, केवल मंत्र–जप से सब कर्मों को शुद्ध कर वह सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।

एक संत का कहना है कि मंत्र–जप केवल चित्त को मंत्र–युक्त बनाने के लिए होना चाहिए न कि कुछ प्राप्ति के लिए। मंत्र जप चित्त को विकार रहित बनाता है। जप के समय प्राय: चित्त इधर–उधर जाता है। चित्त जहाँ जाय, जाने दो, तुम केवल मंत्र पर ही ध्यान केन्द्रित करो। मंत्र – जप से चित्त का भटकाव रुकता है। योग शास्त्र कहता है – " **ध्यानं निर्विषयम् मन:।** " मन का निर्विषय होना बड़ा कठिन है। इसके लिए मन को मंत्र–युक्त, जप–युक्त बनाना बहुत आवश्यक है। मंत्र का जपना बहुत बड़ा योग है।

कर्नाटक प्रान्त में एक योगी थे। वे निरन्तर एक ही मंत्र का जप किया करते थे, एक ही जाति के कपड़े पहनते थे और एक ही जाति के जूते पहनते थे। वे जप को बहुत महत्व देते थे। एक बार किसी ने प्रश्न किया कि महाराज आप ऐसा क्यों करते हैं ? उस योगी ने उत्तर दिया– एक निष्ठता के साथ जप का क्या प्रभाव होता है– देखना चाहते हो। उस व्यक्ति ने कहा– हाँ महाराज, दिखाइए। तब उस योगी ने कहा कि मेरे जूते तुम अपने कानों में लगाओ। उस व्यक्ति को बड़ा आश्चर्य हुआ, दोनों जूतों से मंत्र की ध्वनि स्पष्ट सुनाई दे रही थी। ऐसे ही मंत्र के महत्व की एक और कथा है– भगवान राम की सेना में दो बड़े इंजीनियर थे। नल और नील। वे लंका में जाने के लिए समुद्र में पुल का निर्माण कर रहे थे। नल एक पत्थर पर 'रा' लिखता और नील दूसरे पत्थर पर 'म' लिखता। फिर वे दोनों पत्थरों को पानी में डाल देते थे। पत्थर एक दूसरे से मिल कर पानी पर ठहर जाते थे। उनका यह काम भगवान राम बड़े ध्यान से देख रहे थे। उन्होंने विचार किया कि एक पत्थर मैं भी डाल कर देखूँ। जैसे ही वे पत्थर डाले, पानी में डूब गया। सब हँसने लगे। पत्थर राम की शक्ति से नहीं, बल्कि राम के नाम की शक्ति से पानी में तैरते थे। मंत्र की ऐसी महिमा होती है।

एक बार एक साधक ने एक संत से प्रश्न किया कि जब भी मैं जप करने बैठता हूँ, तो मन और बातों को सोचता है। एक तरफ मंत्र–जप चल रहा है और दूसरी तरफ दूसरा चिन्तन चल रहा है। कृपया इस समस्या का निदान बताइए। संत ने उत्तर दिया– मन अनादि काल से विषयों का कीड़ा रहा है। उसका इधर–उधर भटकना स्वाभाविक है। तेरा ही क्या, बहुत काल तक अभ्यास करने वाले योगी लोगों का मन भी इधर–उधर भटकता है। इसको इतना महत्व नहीं देना चाहिए। जप करते समय अन्तर–कर्ण में मंत्र का उच्चारण ध्यान से सुनना चाहिए। उसे बारीकी से सुनना बहुत जरूरी है। हम लोग नहीं सुनते, इसलिए मन इधर–उधर भाग जाता है। अन्तर–जिह्वा से और अन्तर–मन से मंत्र को बारीकी से जपते रहो और उतनी बारीकी से उसके उच्चारण को अन्तर – कर्णों से सुनते भी रहो। जैसे राम नाम का जप करना है। जप करते समय ध्यान रखना चाहिए कि "रा " को सुना कि नहीं, 'म' को सुना कि नहीं। ऐसे एक–एक अक्षर को सुनना चाहिए। अगर जप के साथ मंत्र का अर्थ भी भाषित होता रहे तो और अच्छा है। कुछ ही दिनों में मंत्र–जप सहज हो जायेगा, तब रुचि भी बढ़ेगी। एक बार रुचि लगने से आनन्द भी आने लगेगा। आनन्द आने से मन का भटकाव अपने आप रूकेगा। जप एक बहुत बड़ी कला है।

31 जनवरी 1990 को प्रयागराज में महाकुम्भ के शुभ अवसर पर हमारे आप के प्राणाधार श्री सद्‌गुरुदेव भगवान के श्रीमुख से प्रवचन के रूप में उद्‌भूत मंत्र– जप के विषय में उनका ब्रह्म–वाक्य ज्यों का त्यों प्रस्तुत है–

"जो मंत्र तुम्हें ध्यान में दिया जाता है, जिसको अजपा गायत्री कहते हैं, उसके लिए यह लेख है– अनया सदृशो विद्या, अनया सदृशो जपः, न भूतो न भविष्यत्। इसके समान कोई विद्या और इसके समान कोई जप न अभी तक हुआ है और न कभी आगे होगा। अर्थात् सबसे उत्कृष्टता इस जप को दी गई है। मैं रोज–रोज तुम्हें उपदेश करता हूँ कि प्रातः काल दो घन्टे बैठ कर अपने गुरु मंत्र का जप किया करो। यद्यपि दीक्षा काल में मंत्र के जपने की विधि और तरह से समझाई गई थी कि एक ध्यानी बैठ कर श्वाँस–प्रस्वाँस से अपने इस मंत्र का जाप करे। किन्तु बहुत से लोग इस प्रकार के हैं जो स्वाँस–प्रस्वाँस की विधि का पालन नहीं कर पाते। थोड़ी देर में ही उन्हें नींद आनी शुरू हो जाती है। इस लिए हमने दूसरी विधि का उपदेश किया जो कि आनन्दकन्द श्री प्रभु जी का आदेश है। जिस विधि का पालन श्री प्रभु जी अपने आप कराया करते थे और यह आज्ञा दी गई थी– तुम इस मंत्र को जीभ से भी जप सकते हो। बोल–बोल कर सुना–सुना कर जपना और बात है किन्तु जीभ जपती रहे और होठों से आगे आवाज न जाए– उपांशु–जप कहलाता है। जब यह दो–तीन घन्टे लगातार होने लगेगा, उसका परिणाम यह निकलेगा कि वह जप मन में होने लगेगा, फिर जीभ से जपने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी– वह मंत्र मन–मन में घूमने लगेगा। पहले अपने गुरु मंत्र का जप जीभ से करो, जीभ से जप करते – करते वह अपने आप मन में प्रवेश कर जायेगा और फिर मन–मन में होने लगेगा। मन–मन में तब होगा जब मेरु दन्ड सीधा रहेगा। नहीं तो मन में जप नहीं हो पायेगा और नींद सताने लग जायेगी इसलिए मन से जपने के लिए मेरु दण्ड का सीधा रखना बहुत जरूरी है।

इसके अतिरिक्त मंत्रों के जपने में कुछ नियम होता है। गायत्री वाले बिना नहाये–धोये नहीं जप सकते। किसी और मंत्र का जप करने वाले नहा–धोकर बैठेंगे पूजन–पाजन करके। किन्तु यह मंत्र इस प्रकार का है – इसमें न तो नहाने की जरूरत है न धोने की। नहाकर जपो चाहे बिना नहाये जपो। खाकर जपो चाहे बिना खाये जपो। चलते– चलते जपो चाहे बैठ कर जपो। सो कर जपो चाहे खड़े होकर जपो। इसमें कोई विधि– निषेध है ही नहीं। यदि जप इस प्रकार से कुदरती चलने लगेगा तो सहज समाधि का अवसर आ जायेगा। देखो ! मैं थोड़ी–थोड़ी बात रोज समझा देता हूँ। उन बातों को समझ करके अपने अभ्यास को बढ़ाओ जो कल्याण का आदि स्रोत है। जप कर करके यदि आत्मिक शक्ति बढ़ा लोगे तो हृदय में श्री प्रभु जी का तेज कायम हो जायेगा और तब किसी के मन पर कोई बाहरी तांत्रिक प्रभाव होगा नहीं। किसी की बाहरी ताकत चल ही नहीं सकती। ऐसी की तैसी चलाने वाले की।"

ये तो थे श्री सद्गुरुदेव भगवान के ब्रह्मवाक्य। मंत्र जप करने वाले के ऊपर किसी बाहरी ताकत का प्रभाव कैसे नहीं पड़ता, इस संबंध में एक बिल्कुल सत्य घटना का उल्लेख किया जा रहा है – यह घटना समर्थ गुरु राम दास और उनके शिष्य शिव राम के संबंध में है। उन दिनों स्वामी राम दास अपनी तेरह वर्ष की कठोर साधना को पूर्ण करके सारे देश में अलख जगा रहे थे। इसी क्रम में उन्हें बनारस आना था। अपने बारह वर्ष के शिष्य शिव राम के साथ वे काशी आये। काशी आने पर शिव राम गुरु की आज्ञा से भिक्षा माँगने निकला। समर्थ गुरु राम दास और उनके शिष्यों का भिक्षा माँगने का एक नियम था। वे किसी के द्वार पर खड़े होकर तीन बार पुकारते थे– जय–जय रघुबीर समर्थ। तीन बार पुकारने पर अगर किसी ने भिक्षा दी तो ठीक अन्यथा आगे बढ़ जाते थे। इस प्रकार मात्र तीन घरों से ही भिक्षा माँगना उनका नियम था।

तीन घरों से अगर भिक्षा नहीं मिली तो वे उस दिन उपवास कर लेते थे। शिवराम ने भी इसी नियम के अनुसार एक द्वार पर आवाज लगाई। वह द्वार काशी के महा तांत्रिक भैरवानन्द का था। भैरवानन्द को अनेकों तांत्रिक क्रियायें सिद्ध थी। यह महातांत्रिक होने के साथ–साथ महा क्रोधी भी था।

अपने द्वार पर जय–जय रघुबीर समर्थ की आवाज सुनते ही वह भड़क उठा। क्रोधावेश में वह बालक शिव राम से बोला– कौन है, जो अपने को समर्थ कहता है ? शिवराम ने बिना किसी भय के कहा कि समर्थ हैं मेरे गुरुदेव और उनकी सामर्थ्य का स्रोत है उनके आराध्य भगवान राम। छोटे बालक को अपने सामने इस तरह बोलते हुए देख कर उस क्रोधी ने कहा– जा मैं भैरवानन्द तुमसे कहता हूं कि कल तू प्रातः काल तक मर जायेगा। तेरे गुरु में सामर्थ्य है तो बचा लें। शिवराम ने समर्थ राम दास के पास जाकर उस तांत्रिक की सारी बातें बताई। उन बातों को सुनकर समर्थ राम दास हँसे और बोले बेटा– समर्थ रघुबीर के होते डर कैसा ? तू तो बस आराम से गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु वाला मंत्र जपता रह और आराम से मेरा पैर दबाता रह। इतना कहकर समर्थ राम दास लेट गये।

बालक शिव राम उनके पाँव दबाते हुए गुरु नमन–मंत्र जपना शुरू किया। उधर भैरवानन्द ने भी उसको मारने के लिए महा कृत्या का प्रयोग किया। पूरी रात महाकृत्या ने शिवराम को मारने के लिए अनेक रूप धरे, उसे कई तरह से गुरु–नमन मंत्र से विरत करना चाहा, परन्तु शिव राम की अटल गुरु भक्ति के सामने उसकी एक न चली। अन्त में असफल हो कर उसने भैरवानन्द पर ही आक्रमण किया। महा तांत्रिक अपनी क्रिया को उलटते देख कर घबरा गया। वह भागा–भागा आकर समर्थ गुरु राम दास के चरणों में गिर पड़ा। समर्थ राम दास ने उसे अभयदान देते हुए कृत्या का शमन किया और उसे चेताया कि गुरु नमन–मंत्र साधारण नहीं है। जिसकी वाणी में यह मंत्र है और हृदय में गुरु भक्ति है, वह गुरु–कृपा के कवच से सदा सुरक्षित है। कोई अभिचार क्रिया उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। यह है मंत्र–जप का प्रभाव।

श्री गुरुदेव भगवान अपने प्रवचन में यह कहा करते थे कि यदि जनम–मरण के महान दुख से बचना चाहते हो तो मेरी एक बात मान लेना– नित्य सुबह पाँच बजे से सात बजे तक कम से कम दो घण्टे अपने गुरु मंत्र का जप किया करो। उनका यह भी कहना था कि दिन–रात गुरुदेव की चारपाई पकड़ कर बैठे रहना गुरु सेवा नहीं है। दिन में बार – बार गुरुदेव को प्रणाम करना भी गुरु सेवा नहीं है। गुरुदेव की सच्ची सेवा है– गुरुदेव की आज्ञा का अक्षरशः पालन करना। वे प्रायः कहा करते थे तुम लोग गुरु को तो मानते हो लेकिन गुरु की नहीं मानते। आइये हम सब संकल्प लें कि आज से कम से कम दो घन्टें गुरुदेव की आज्ञानुसार अपने गुरुमंत्र का जप अवश्य करेंगे।

अन्त में एक योगी साधक अपने मन के उद्गार को इस प्रकार व्यक्त करता है– हे गुरुदेव ! आपके द्वारा दिया हुआ वही ध्यान–मंत्र है जिसके जपने से धारणा की गति स्थिर हुई। आप के दिये हुए मंत्र–जप से ही साधना–यज्ञ की आहुति पूर्ण हुई। आप द्वारा प्रदत्त मंत्र–जप से ही पूर्णाहुति करके मैं शान्त बना और तृप्त हुआ। इतना ही नहीं, मैं भी वही हूँ, ऐसा विश्वास दृढ़ हुआ। यह केवल आपका कृपा प्रसाद ही नहीं, वरन् आप स्वयं मंत्र के रूप में मेरे अन्दर प्रवेश करके मेरे समस्त पातकों को भस्म कर दिया, मल को धो दिया और जीव को शिव बना दिया।

आप ने मुझे अपना बनाया। हे गुरुदेव आप का सम्मान कैसे करूँ ? हाँ आपका आभार कैसे व्यक्त करूँ ? आपकी पूजा कैसे करूँ ? इतना अवश्य रटता रहूँगा– जय गुरुदेव ! जय गुरुदेव ! निम्न पंक्तियों के साथ मैं अपनी लेखनी को विराम देता हूँ–

जैसे भी हैं हम हैं तुम्हारे, गुरुवर हमें स्वीकार करो।
गुरु-भक्ती की तड़प जगाकर, भव-सागर से पार करो।।

जीवनमुक्त तत्वज्ञानी

दु:खष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:।
वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।

जीवन्मुक्त मनुष्य अज्ञानी की तरह विषयों में लीन नहीं होते हैं, वरन् तत्वज्ञानियों की भाँति अनासक्तिपूर्वक विषयों का भोग करते हैं। जैसे चन्दनकाष्ठ की सुगन्ध को कृमि, कीट आदि जन्तु नहीं जान पाते, वैसे ही जीवन्मुक्त के अन्त:करण की शीतलता को कोई नहीं जान पाता-

अन्त: शीतलतामेषां तां न जानन्ति केचन।
दूराच्चन्दनदारूणामामोदमिव जन्तव:।।

जैसे साँपों के पैरों को साँप ही जानते हैं, वैसे ही जीवन्मुक्त तत्वज्ञानी के स्वरूप को तत्वज्ञानी ही जानते हैं। दम्भी या ढोंगी लोग सर्वत्र अपनी तत्वज्ञता का प्रचार करते फिरते हैं, परन्तु जो तत्वज्ञानी होते हैं, वे अपने स्वरूप को गुप्त रखते हैं। वे आत्मज्ञापन नहीं ; आत्मगोपन को मूल्य देते हैं। तत्वज्ञानी पुरुषों को अपने स्वरूप या गुणों को छिपाये रखने से ही मतलब रहता है, दूसरे द्वारा अपनी सर्वत्र ख्याति कराने से नहीं। वे वासना से शून्य, द्विधाभाव से रहित एवं अभिमान से विहीन होते हैं। दम्भियों की ख्याति बाजार में बेचने के लिए फैलायी गयी नकली चिन्तामणि की तरह होती है। मेरे गुणों को संसार जाने और मेरी पूजा करे, यह अभिलाषा दम्भियों, पाखण्डियों और अहंकारियों की होती है, जीवन्मुक्त विवेकियों की नहीं।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

गीता के उपदेश का रहस्य

डॉ. विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र 'विनय'

गीतोपदेश की प्राप्ति और श्रवण का अधिकार किसे है – यह बात स्वयं गीता से ही स्पष्ट हो जाती है। गीता की प्रादुर्भूति विषाद योग से होती है। विषाद तो सभी के जीवन में आता है, किन्तु सभी उसे भगवान् के समक्ष अनादृत नहीं करते, इसलिए वह योग नहीं बन पाता। अर्जुन और दुर्योधन (ऐतिहासिक सत्य होने पर भी) आध्यात्मिक दृष्टि से परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। अर्जुन शब्द का अर्थ है – सरल–सन्मार्ग पर चलने वाला साधक और दुर्योधन का अर्थ है– कूटनीति का आश्रय लेकर जिह्म मार्ग पर चलने वाला कलयुगी व्यक्ति। गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन की उपस्थिति के पूर्व दुर्योधन के चरित्र का यही पक्ष तीसरे, आठवें और दसवें श्लोकों में संकेत किया गया है। कलि–स्वरूप दुर्योधन की वाणी के ये प्रमुख चार दोष यहाँ स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं– 1. असत्य, 2. मर्म–वेधकता, 3. चाटुपरता और 4. संदिग्धता। पाण्डवों की सेना दुर्योधन की सेना से बहुत अल्प थी, फिर भी दुर्योधन उसे महती कहता है, यह वाणी का प्रथम दोष है। इसके बाद वह आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुप पुत्र द्वारा व्यूहाकार खड़ी की गई कहकर द्रोणाचार्य के मर्म को चोट पहुँचाता है। मानो वह उपालम्भ दे रहा हो कि ' जो आपके पुराने शत्रु द्रुपद का पुत्र था उसे आपने (अपने वध के लिए उत्पन्न हुआ जानकर भी) जो अस्त्रविद्या सिखाई यह आपकी बुद्धिमानी नहीं थी।' 'तव शिष्येण धीमता '– पद से द्रोणाचार्य की इसी भूल पर चोट की गई है और जान–बूझकर धृष्टद्युम्न न कहकर 'द्रुपद–पुत्र' शब्द द्वारा आचार्य की वैर–वह्नि को जाग्रत करने का कूट–प्रयत्न किया गया है जो स्पष्ट है, यह द्वितीय दोष हुआ। तदनन्तर अपने पक्ष के वीरों की गणना करते समय सर्वप्रथम द्रोणाचार्य का नाम ग्रहण करना प्रकरण की दृष्टि से उचित होते हुए भी वाणी के तृतीय दोष चाटुपरता को व्यंजित कर देता है।

दसवें श्लोक में 'पर्याप्त और अपर्याप्त' शब्दों का अर्थ यद्यपि प्रमुख टीकाकारों ने हमारी सेना जीतने में कठिन तथा पाण्डवों की सेना जीतने में सुगम किया है। किन्हीं–किन्हीं के मतानुसार इसका बिल्कुल विपरीत ही अर्थ है अर्थात् 'अपर्याप्त और पर्याप्त' शब्दों का अर्थ क्रमशः 'अल्प–शक्तिशाली और अधिक शक्तिशाली ' है। दुर्योधन द्वारा जानबूझकर ऐसे द्वयर्थक शब्दों का प्रयोग वाणी का संदिग्धता–रूप चतुर्थ दोष है। इस प्रकार इस प्रसङ्ग से दुर्योधन का चरित्र स्पष्ट हो जाता है। अर्जुन की वाणी सरल, संदिग्ध और उनके आन्तरिक भावों का सुस्पष्ट प्रकाशन करती है। यही कारण है कि प्रथम अध्याय में आगे चलकर वे अपनी शारीरिक और मानसिक अवस्था का स्पष्ट चित्रण करते जाते हैं– यही दोनों व्यक्तियों का भेद है। विषाद तो दुर्योधन के जीवन में भी आता है किन्तु वक्रमार्गीय और बहिर्मुख होने के कारण वह 'योग' नहीं बन पाता । यही कारण है कि गीतोपदेश के समय युद्ध–स्थल में उपस्थित रहने पर

भी वह गीता का श्रवण नहीं कर पाता। गीता तो अर्जुन को ही प्राप्त होती है, जिनका विषाद भी प्रभु–समर्पित होकर 'योग' बन जाता है।

गीतोपदेश का रहस्य– यद्यपि गीता अर्जुन को प्राप्त होती है, किन्तु इसके लिए उन्हें अपने व्यक्तित्व का क्रमशः परिमार्जन करना पड़ता है। ध्यान से देखने पर समग्र गीता के उपदेश–वाक्यों को तीन शैलियों में विभाजित किया जा सकता है – (1). शास्त्रोपस्थापिका या निरपेक्ष शैली। (2). शास्त्र–व्यवस्थापिका या सापेक्ष शैली। (3). शास्त्र–निर्मापिका या विशेष शैली।

जहाँ पर भगवान श्रीकृष्ण बिना किसी विशेष अभिनिवेश के केवल शास्त्र–वचनों को उपस्थित कर देते हैं, वही प्रथम शैली है, जहाँ पर 'युद्धयस्व', 'उत्तिष्ठ' आदि क्रियापदों द्वारा अर्जुन को सम्प्रेरित करते हुए शास्त्र–वचनों की प्रकरणानुसार (अर्थात् अर्जुन के लिए) व्यवस्था देते हैं, वहाँ द्वितीय शैली है, किन्तु जहाँ अतिशय कृपा परवशता द्वारा अपने स्वरूप, शक्ति आदि की ओर उन्मुख करके अर्जुन का सम्पूर्ण भार स्वीकार करते हैं, वहाँ अनुग्रहरूप नवीन शास्त्र– विधि का निर्माण होता है, यह गीतोपदेश की तृतीय शैली है। जो ज्ञानी है, उसके लिए शास्त्र के प्रमाण को ही उपस्थित कर देना पर्याप्त है, कर्मनिष्ठ को उचित – अनुचित कर्तव्य की व्यवस्था देना आवश्यक है, किन्तु भावुक भक्त का तो सर्वविध समर्पण स्वीकार करके उसे निश्चिन्त कर देना ही उचित होता है। हमारे विचार से इन्हीं तीन शैलियों को क्रमशः ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग की संज्ञा प्राप्त हुई है।

प्रथम और द्वितीय अध्याय में अर्जुन के तीन व्यक्तित्व क्रमशः दिखलायी पड़ते हैं–

(1). पहला व्यक्तित्व अर्जुन का स्वामिभाव है। अर्जुन रथी हैं और श्रीकृष्ण सारथि हैं, परम्परानुसार रथी सारथि को आज्ञा देता है। इसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्ण से सर्वप्रथम इसी शब्दावली में बात करते हैं–

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत। 1/21

अर्थात्– हे श्रीकृष्ण ! मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिये। ' यहाँ आगे पीछे का पूरा प्रसङ्ग अर्जुन की अहंक्रिया का चित्रण करता है। इस बात को वे गाण्डीव उठाकर (धनुरुद्यम्य) बड़े संरम्भ से कहते हैं। आगे भी उनकी शब्दावली यही है कि 'देखूँ कौन मुझसे युद्ध करने को आया है ' आदि। इसके उत्तर में श्रीकृष्ण रथ को कथित स्थान में खड़ा करके आज्ञाकारी सारथि की भाँति यही कहते हैं कि ' हे अर्जुन ! तुम इन एकत्र हुए कुरुवंशियों की ओर देखो '–

उवाच पार्थ पश्यैतान्, समवेतान् कुरुनिति। 1/25

(2). आगे जब अर्जुन सम्यक् निरीक्षण करते हैं तब उनके अन्तःकरण की संस्क्रिया (चित्त) और प्रक्रिया (बुद्धि) दोनों जाग्रत होती हैं और वे परिस्थिति की समीक्षा करके 'तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः ' श्री कृष्ण के प्रति मित्र या सखाभाव से उपस्थित होते हैं। जैसे एक सुहृद के सामने अपनी सम्पूर्ण परिस्थिति को संकोच रहित होकर कहा जाता है उसी प्रकार पार्थ भी अपनी सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक दशा का वर्णन करते हुए अपनी बात रखते हैं और मानो श्रीकृष्ण को उचित सलाह देने को प्रेरित करते हैं। इस प्रसङ्ग में अनेक बार भगवान् को 'कृष्ण',

'केशव', 'गोविन्द', 'जनार्दन' आदि नामों से सम्बोधित करने में इसी सत्य भाव की व्यंजना है। इस भाव के अनुरूप उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण द्वितीय अध्याय में एक मित्र के प्रेरक उद्बोधन के रूप में इस प्रकार देते हैं–

कुतस्त्वा कश्मलमिदं, विषमे समुपस्थितम्।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।।

क्लैब्यं मा स्म गमः, पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।। 2/2/3

(3). अब आगे उनमें अपने निर्णय और भगवान श्रीकृष्ण के इस उद्बोधन पर कार्या–कार्य की विचिकित्सा उत्पन्न होती है अर्थात् अब उनका अन्तःकरण विक्रिया ' मनः' प्रधान अर्थात् भावुक हो जाता है। इस समय वे किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अपने कार्पण्य–दोष का अनुभव करते हुए शिष्य भाव से भगवत्प्रपन्न होते हैं–

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः, पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेता।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्में, शिष्यस्तेऽहं शाधिमां त्वां प्रपन्नम्।। 2/7

इसी के बाद गीतोपदेश का आरम्भ होता है। एक गुरु जिस प्रकार विपरीत–मार्ग में भटके हुए शिक्षार्थी को डांट लगाते हुए उसे उचित सिद्धान्त पर लाता है , उसी प्रकार भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को अनुशासित करते हुए कहते हैं–

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं, प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

गतासूनगतासूंश्च, नानुशोचन्ति पण्डिताः।। 2/11

'अर्जुन ! तुम अशोचनीयों के लिये व्यर्थ शोक करते हो, बोल तो रहे हो पण्डितों की सी शब्दावली, किन्तु हो अपण्डित ही ; क्योंकि पण्डितजन तो जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिए और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिए दोनों के ही लिए शोक नहीं करते।'

गीता का उपसंहार भी इन्हीं तीनों भावों के अनुसार होता दिखलायी पड़ता है। अठारहवें अध्याय के 63 वें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं – 'पार्थ' ! मैंने तुम्हें गुह्य से गुह्यतर यह ज्ञान सुना दिया, अब तुम पूरी तरह विचार करके जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो– 'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।' यह निरपेक्ष शैली है। भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ अर्जुन की इच्छा को प्रधानता देते हुए अर्जुन के प्रथमभाव (स्वामिभाव) के अनुरूप उपसंहार करते हैं, किन्तु जब अर्जुन चुप रह जाते हैं तब आगे वे मित्र भाव से पुनः सर्वगुह्यतम तथा परम वचनों के द्वारा अर्जुन का हितसंसाधन करते हुए सापेक्ष शैली में वक्तव्य का परिसमापन करते हैं ; क्योंकि वे उनके परम इष्ट–मित्र हैं– 'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।' (19/64) आगे श्लोक में वे 'मन्मना भव मद्भक्तो.' आदि के द्वारा शास्त्र की व्यवस्था देते हुए शपथपूर्वक अपने कथन को पुष्ट करके अर्जुन को अपना पिय मानते हैं और उन्हें अपनी प्राप्ति का आश्वासन भी देते हैं– 'मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।' (18/65) तथापि अभी कुछ बात शेष रह गई प्रतीत होती है– तुम मुझे ही प्राप्त होगे, मैं तुमसे इस बात की प्रतिज्ञा करता

हूँ– यहाँ 'एव' 'माम् एव' द्वारा कुछ परोक्षभाव–सा दिखलायी पड़ता है और तभी तो विश्वास दिलाने के लिए 'प्रतिजाने'– प्रतिज्ञा करता हूँ – यह कहना पड़ रहा है। यदि गीता शास्त्र का उपसंहार यहीं हो जाता तो भक्त के उद्धार में भगवान श्रीकृष्ण की कोई विशेष जिम्मेदारी नहीं रहती। चूँकि द्वितीय अध्याय में अर्जुन अन्ततः शिष्य बनकर प्रसन्न हो चुके हैं, अतएव अब विशेष शैली के द्वारा गुरुभाव की सार्थकता और शरणागति की सिद्धि करनी ही पड़ेगी इसी लिए 66 वें श्लोक में सारी कर्मविधि को छोड़कर एकमात्र अपनी शरण में आने का आदेश देते हुए शिष्य का सम्पूर्ण भार स्वीकार कर लेते यथा उसे शोकमुक्त बना देते हैं–

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

अर्जुन के व्यक्तित्व की यह यात्रा अहं के उदात्तीकरण की साधना है। अर्जुन का प्रथम व्यक्तित्व '**यावदेतान्निरीक्षेऽहम्**' '**योत्स्यमानानवेक्षेऽहम्**' के रूप में जीव के अहंकार का प्रदर्शन करता है, किन्तु गीता के उक्त चरम वाक्य तक आते–आते वह सर्वान्तर्यामी प्रभु का 'अहम्' बन जाता है– '**अहं त्वा मोक्षयिष्यामि।**' अर्जुन के पास जो 'अहम' था उसे जब भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वीकार कर लिया तब उनके पास केवल 'तव' अर्थात् 'तुम्हारा' ही रह गया, इसीलिये वे '**करिष्ये वचनं तव**' (18/73) कहकर युद्ध के लिए उद्यत हो जाते हैं। अहंकार वस्तुतः परमात्मा का ही हो सकता है ; क्योंकि एकमात्र वही आत्मरूप अर्थात् 'अहम्' पदवाच्य है। परिच्छिन्न जीव जब उसे अपना बना लेता है तब उसे विश्वात्मा को प्रत्यर्पित कर देता है तब सम्पूर्ण शोक क्षणभर में नष्ट हो जाता है, यही गीता का परम और चरम रहस्य है।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

गृहस्थ के लिए आवश्यक पंच महायज्ञों का विधान

श्री हीरालाल शास्त्री, फर्रुखाबाद

भारतवर्ष में प्राचीन काल से अहिंसा का पालन तत्परता से करने के लिए हिन्दु कहलाने वाले वर्ग को प्रतिदिन 5 यज्ञों का विधान किया था जिनसे अपने पराये सब सुख रहित थे। मनुस्मृति–

फच्चसूनागृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्करः।

कण्डनीचोंद कुम्भश्च्च वध्यते यास्तुवाह्यन्।।

मनु० 3/68

अर्थात् चूल्हा, सिललोढ़ा, झाडू, उखली, घड़ा वास्तव में गृहस्थ के घर में यह पाँच कसाई खाने कहे जाते हैं अत: अनिवार्य रूप से होने वाली इस हिंसा का भी विधान हमारे पूर्वजों ने विचारपूर्वक प्रायश्चित्त और उपाय निश्चित किया है। जैसे '**देवतातिथिभृत्यानां पितृणा मात्यनश्चयः। वा निर्वपतिपंचानामुछ्सन्नजीवांत श्रुतिप्रमाण–निष्कारणो वेदोऽध्ययोज्ञेयश्च।** अर्थात् वेद को निष्कारण पढ़ना और जानना चाहिए। (यही ब्रह्मयज्ञ कहा जाता है) अध्ययन उसी ज्ञान का करते हैं जिससे धन की प्राप्ति अवश्य हो। यद्यपि अंग्रेजी शासन ने भारत की सभ्यता को भुलाने के लिए अपनी भाषा का प्रचार किया और उसमें नौकरी का विधान कर दिया जिससे अधिकतर ने संस्कृत को छोड़कर नौकरी वाली भाषा का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया और वेद को छोड़ दिया। वास्तव में शरीर और मन की शुद्धि करने वाली और ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाली संस्कृत का ही परित्याग कर दिया तब वेदाध्ययन करना तो प्रायः असंभव ही हो गया। इस असम्भवता में भी ऋषियों ने कल्याण के लिए नियम बनाये कि गौतम, **आपस्तम्ब–एकमृयमेकं वायजुरेकं वा सामाभिव्याहरेत्।** अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद की एक ऋचा का ही अध्ययन कर ले मनु का वचन है–

अपां समीपे नियतो, नैत्यिकं विधिमास्थितः।

सावित्रीमप्यधीयति, गत्त्वारण्यं समाहितः।।

नित्य के अवश्य अध्येय वेदाध्ययन के लिए कम से कम इतना अवश्य ही करे कि वन में जलाशय के समीप बैठकर सावधान होकर गायत्री का जप करे इससे भी त्रुटि देखकर कि एक ही व्यक्ति के अध्ययन से संसार का ही दीर्घ काल तक कोई लाभ नहीं हो सकता– इसीलिए इस परम्परा को चलाने के लिए उपाय करना चाहिये जिससे नवीन वेद ज्ञाता उत्पन्न होते रहें। इसलिए अधिकारी शिष्यों को वेद पढ़ाना चाहिए। यथा–

यो विद्यामधीत्य आर्थिने न ब्रूयात् स कार्यहास्यात् श्रेयसोद्धार मपावृनुयान्।

अर्थात् जो वेदाध्यान करके शिष्य को उसका अध्यापन नहीं कराता, वह कार्य की हानि करता है और कल्याण का मार्ग ही बंद कर देता है। मनु का वाक्य–

यमेव तु शुचिं विद्या, नियतं ब्रह्मचारियम्।

तस्मै मां ब्रूहि विप्राय, निधिपाया प्रमादिने।।

अर्थात् जिसे तुम पवित्र–जितेन्द्रिय–ब्रह्मचारी मुझ निधिकारक्षक अप्रमादि विप्र को पढ़ा करे। प्रतिदिन तिलोदक देकर पितरों को तृप्त करना और एक ब्राह्मण को भोजन कराना इस प्रकार पितरों को तृप्त करना यह दैनिक प्रसिद्ध पितृयज्ञ है। हाँ पितृ पक्ष में प्रतिदिन पार्वण श्राद्ध करने का विधान है। परञ्च आधुनिक समय में तो प्रायः तर्पण ही करके अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं केवल मृत्यु तिथि को श्राद्ध, ब्राह्मण भोजन देने में अपना कर्तव्य पूर्ण समझते हैं।

वास्तव में अर्थयादि नित्य पितरों की और परलोकगामी नैमित्यिक पितरों को पिंड प्रदानादि से किये जाने वाले सेवारूप यज्ञ को पितृयज्ञ कहते हैं।

सन्मार्ग में लगाने और असन्मार्ग से बचाकर माता, पिता, पुत्र का ज्ञान प्राप्ति कराते हैं। उन्हीं के अथक परिश्रम से मनुष्य धर्म–अर्थ, काम–मोक्ष को प्राप्त होकर सुखी होता है। ऐसे दयालु माता, पिता की प्राप्ति के लिए उनके सम्मान के लिए अपनी कृतज्ञता के लिए उनसे उऋण होने के लिए पितृयज्ञ नितान्त आवश्यक है। आधुनिक काल में विरले ही पुत्र इस प्रकार माता–पिता का महत्त्व मानते हैं। अधिकतर स्त्रियों की प्राप्ति होने के बाद वृद्ध माता–पिता को साधारण भोजन भी नहीं दे सकते। परञ्च समधिक अवज्ञा करते हैं। फिर वह सुखी कैसे रह सकते हैं। श्री तुलसीदास जी कहते हैं –

नारि विवशनर सकल गुसायीं।

नाचहिं वट मर्कट की नार्यीं।।

ऐसी दशा में माता, पिता तो मनुष्य के होते हैं उनकी स्त्रियाँ पति की माता को क्यों मान सकतीं है यह ख्याल तो मनुष्य की वृद्धि पर ही निर्भर है।

देवयज्ञ– जिसमें सूर्य, अग्नि, चन्द्र, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, लक्ष्मी, नवग्रह आदि की प्रीति के लिए घृत द्वारा आहुति दी जाती है यही देवयज्ञ कहा जाता है।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः, सम्यक् आदित्यमुपतिष्ठते।

आदित्याज्ञायते वृष्टिः, वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।

अर्थात् अग्नि में जो आहुति दी जाती है वह आदित्य में पहुँचती है आदित्य से वर्षा होती है वर्षा से अन्न होता है अन्न से प्राणी उत्पन्न होते है और जीते हैं।

भूतयज्ञ– सभी जीवों पशु, पक्षी, कृमि, कीट, कुत्ता, चाण्डाल, अन्त्यज, अपाहिज सबको शक्ति अनुसार प्रतिदिन सिद्ध अन्न देने का विधान है। जिससे रोटी का प्रश्न हल होकर आपस में प्रेम बढ़े। दुःख दरिद्रता आजकल की सी न रहे।

नृयज्ञ– अतिथि सत्कार करना नृयज्ञ कहलाता है। आजकल अपने दोस्तों में पुरुष और स्त्रियाँ अपनी सहेलियों में इसका प्रचार यथा कथंचित चाय, दालमौठ मुगौड़ी, पकौड़ी

आदि से तो करते हैं वह भी बदले की भावना प्रधान होती है। भूखा, गरीब अपरिचित व अपाहिज आ जाए तो उसके लिए हम लोगों के घर में या हृदय में कोई स्थान नहीं है। प्रायः निराश होकर ही लौटता है। भारत में पूर्वज दम्पति अतिथि को भोजन करा कर ही स्वयं करते थे। यह प्रत्येक गृहस्थी का साधारण धर्म था इसी से वह अबकी अपेक्षा सुखी थे। मनुस्मृति–

अघं स केवलं भुङ्क्तेयः, पचत्यात्म् कारणात्।

(3/118)

अर्थात् अपने लिए रसोई बनाने वाला पाप का ही भक्षण करता है। पञ्चमहायज्ञ के विवरण से आप अवश्य समझ गये होंगे कि जब घर में 5 महायज्ञ होते थे तब कोई झगड़ा विषमता, संघर्ष नाम वाले दृश्य सामने नहीं सुनाई पड़ते थे जैसे कि आज हो रहे हैं। जीवन यात्रा सुखपूर्वक ही सब प्रकार चलती थी। कृत्रिमता नाम की कोई वस्तु नहीं दिखाई देती थी।

कृत्रिमता– आज के समय में समाज कृत्रिमता की तरफ दौड़ रहा है। अपनी सत्य दशा पर पर्दा डालकर कृत्रिम रूप से संसार के सामने आने का ही प्रयत्न करता है। इसी कारण दुःख उठाता है। अतः कृत्रिमता को त्यागकर सत्यता का पालन करते हुए जीवन निर्वाह करना चाहिए।

पञ्चमहायज्ञ का वर्णन ऋषियों ने अपने धर्म–ग्रंथों में यत्र–तत्र किया है।

तैत्तियारण्यक में –

पञ्चवा एते महयज्ञा सतति प्रतायन्ते, देवयज्ञः,पितृयज्ञः, मनुष्य यज्ञः, भूत यज्ञः, ब्रह्मयज्ञः।

आश्वत्रायन में – **अथाता पञ्चमहायज्ञाः देवयज्ञः, भूतयज्ञः, पितृयज्ञः, ब्रह्मयज्ञः, मनुष्ययज्ञः।**

छान्दोग्य परिशिष्ट–

देव भूत पितृ ब्रह्म मनुष्याणांयनुक्रमात्।

महासत्राणि जानीयात् त एव हि महामखा।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य, मनुस्मृति आदि में इनका वर्णन है।

भगवान कृष्ण ने भी कहा है–

यज्ञा शिष्टाशिनः सन्तः, मुच्यन्ते सर्व किल्विषैः।

इत्यादि।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

भाव शुद्धि से महाभाव

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा, रीडर

कर्म जीव को बन्धन में डालते हैं। कर्म के मूल में इच्छा, आशा, वासना या स्पृहा होती है, जिनसे उद्वेलित होकर जो हलचल–सर्म–प्रतिसर्ग या उत्सर्ग होती है वही कर्म का रूप लेकर मनुष्य को उसके विधि–निषेध में इस तरह जकड़ लेती है कि व्यक्ति इधर से उधर मारा–मारा फिरता है और जाल में फंसे मृग की तरह 'ज्यों–ज्यों सुरझि भज्यौ चहत त्यों–त्यों उरुझत जाय' की स्थिति को प्राप्त होता चला जाता है। इस कर्मचक्र का विस्तार अण्ड से ब्रह्माण्ड तक नाना प्रकार की जातियों, भोग–साधनों तथा कालखण्ड में पाया जाता है। जब तक कर्म का चक्र रहता है तब तक भ्रम और संशय से भी छुटकारा नहीं मिलता। निष्काम कर्म का निराकरण होने पर पुरुष और प्रकृति की गाँठ–जिसे जड़– चेतन ग्रन्थि या अविद्या का आवरण कहा जाता है खुल जाती है।

ज्ञानालोक होने पर सारे कर्म और बुद्धि के विकार समूल नष्ट हो जाते हैं। निष्काम कर्म की साधना का प्रारम्भ उस क्षण होता है जब सारे कर्मों का फल भोगने की इच्छा समाप्त कर दी जाती है अथवा कर्त्तापन का अभिमान निःशेष हो जाता है। इसके लिए ईश्वर प्रणिधान का मार्ग है। ईश्वर प्रणिधान का तात्पर्य है कि सारे कर्मो का अधिष्ठान मात्र ईश्वर को समझकर उसी के चरणों में कर्म तथा उसका फल समर्पित कर अकर्त्ता तथा अभोक्ता (दृष्टा) बन जाना। कर्म की निवृत्ति तथा अकर्त्ता पाने की स्थिति भाव–जगत में अधिष्ठित होने से होती है। कर्म के द्वारा ईश्वर प्रणिधान असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। भाव जगत में प्रवेश करने पर भव सिन्धु गोखुर में समा सकता है। भावों की श्रृंखला ही जगतपति से जोड़ने वाली है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी सिद्धान्त की पुष्टि के लिए सिद्धान्त वाक्य का उपदेश दिया है–

सेवक सेव्य भाव विनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धान्त विचारि।।

अपने हृदय में रहने वाले प्राणों के भी प्राण, वाणी को भी वाणी देने वाले परम प्रिय प्रभु से नाता जोड़ने के लिए सेवक और स्वामी भाव से जो नाता होता है उसी से भाव भूमि में स्थित होकर प्राणी स्वामी की करुणा कृपा का स्मरण कर हर समय चिन्ता रहित होकर आनन्दमग्न रहा करता है। यदि अपने प्रियतम को पाना है तो नाना प्रकार के वेश बदलने, ज्ञान–वैभव तथा जाति कुल अभिमान से उसे त्रिकाल में भी नहीं पाया जा सकता। उसे तो भाव के अन्दर कैद किया जाता हैं। जिसका जितना गहरा और सच्चा भाव होता है उसके लिए वह उतना सच्चा और नजदीक हो जाता है। वैसे तो वह मन वाणी से अगम अगोचर है किन्तु भाव से वह सगुण साकार और प्रत्यक्ष गोचर होकर गुरु , मात, पिता, बन्धु तथा दाता बन जाता है। संत शिरोमणि तुलसी का अपने प्रभु के लिए सेवक सेव्य भाव तो है ही कभी–कभी दाता और भिखारी, जीव

और ब्रह्म पातकी और पतित उधारन आदि के भी उनके अनेक भाव है। अथवा यह समझना चाहिए कि संसार में जो भी नाते रिश्ते देखे और सुने जाते हैं वे सब अपने आराध्य में ही सन्निविष्ट है–

तोहि मोहि नाते हैं अनेक, मानिये जो भावै।

श्री मद्‌भगवद्गीता में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन–

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

इस श्लोक में किया गया है। अपने प्राणों के भी प्राण सर्व शक्तिमान आनन्द कन्द प्रभु की शरण सभी भावों से जाने पर जीव कर्त्तव्य के अभिमान तथा कर्मफल भोग रूप सुख–दुःख के चक्र से मुक्त हो सकता है। तुलसी इसीलिए सलाह देते हैं कि – ममता मद और अभिमान त्याग कर सर्वव्यापक सीताराम की आनन्दमयी विभूति की करुणा कृपा प्राप्त करने के लिए अपने भाव शुद्ध करो। क्योंकि उसे न विद्या से वश में किया जा सकता है और न धर्म, धन, जाति वेश जपतप आदि कर्मो से, वह भाव के वश में हो जाता है। कहा है कि–

भाववश्य भगवान, सुख निधान करुणायतन।

तजि ममता मद मान, सेइय सदा सीतारमण।।

चराचर में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो चेतन स्वयं प्रकाशक सत्ता से खाली हो, तथापि जहाँ भाव होता है वहीं वह सक्षम होकर गिरधारी, घनश्याम, राम, शिव, और महामाया दुर्गा बन भक्तों के भावानुसार प्रकट होती है। सन्त शिरोमणि तुलसी ने रामचरित मानस में रुद्राष्टक में भूतभावन भगवान शंकर की स्तुति करते हुए जिन विशेषणों का प्रयोग किया है वे बहुत सार्थक हैं। देखिये–

त्रयी शूल निर्मूलनं, शूल पाणिम्।

भजेऽहं भवानी पतिं, भाव गम्यम्।।

तीनों तापो को दूर निकाल फेंकने वाले उमापति महादेव को मैं शरणापन्न होता हूँ। जो वैसे तो दिखाई नहीं पड़ते। हाँ ! भाव–मग्न होकर जो उनका भजन ध्यान, जप आदि करता है उसके लिए भूतभावन भूतेश सर्वसमर्थ होकर ऋद्धि–सिद्धि के दाता बन जाते हैं और वह प्रत्यक्ष अनुभव करता है कि भगवान शंकर '**कर्त्तम मकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुम्** ' में पूर्ण समर्थ हैं। उनकी कृपा से योग ज्ञान वैराग्य का खजाना सहज मिल जाता है।

प्रभु समरथ सर्वज्ञ शिव, सकल कला गुण धाम।

योग ज्ञान वैराग्य निधि, प्रणत कल्पतरु नाम।।

जो भाव विभोर होकर प्रभु के नाम का जप करता है उसे साधक के भाव के अनुसार भगवान शंकर फल अवश्य देते हैं योग दर्शन में भगवान पतंजलि जप के प्रसंग में जप के साथ –साथ भावना व्यापार का उल्लेख करते हैं –

तज्जपस्तदर्थ भावनम् ।

मंत्र का जप करने तथा मंत्रार्थ की भावना करने, अपने अन्तःकरण में अनुभूति की अव–धारणा करने से मंत्रजप का यह फल होता है कि योगी को साक्षात् अपरोक्ष चैतन्य का दर्शन हो जाता है जिससे योगी के मार्ग के सारे अन्तराय निवृत्त हो जाया करते हैं। जैसा कि योग–दर्शन में कहा है –

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

भाव से भक्ति का द्वार खुलता है तथा प्रभु कृपा को अभिमुख करने का साधन भाव ही है। जिसके मन में दृढ़ विश्वास हो गया है अपने इष्ट में तथा जो अपने आराध्य को छोड़कर और कुछ नहीं चाहता उनके लिए विश्वनाथ को निर्गुण से सगुण, अकर्त्ता से कर्त्ता, दृष्टा से भोक्ता बन जाना पड़ता है। ऐसे भक्त की भगवान हर क्षण रखवाली किया करते हैं।

सकल विघ्न नहि चितवहिं तेहि।
राम कृपा करि विलोकहिं जेहि।।

संसार में हर वस्तु भाव से ही मिलती है। कहा जाता है कि हर चीज का भाव है। भाव मनुष्य की जरूरत और वस्तु की उपलब्धि दोनों के संयोग से बनता है। जो वस्तु आसानी से मिल जाय उससे जरूरत चाहे पूरी हो जाय परन्तु सुख और सन्तोष नहीं हो पाता। भाव जितना ऊँचा होता है और ऊँचे दाम देकर यदि कोई वस्तु प्राप्त की जाती है तो मँहगा सौदा बड़ा प्यारा लगा करता है। सस्ते भाव का उतना आदर भी नहीं इसलिए ईश्वर ने अपनी कृपा को सर्व–सुलभ नहीं रखा। जब बन्दा अपना सर्वस्व दाँव पर लगा देता है तो तब उस परमधन का सौदा हो पाता है। जब तक भाव नहीं बनता तब तक वस्तु होते हुए भी सौदा नहीं हो पाता। जहाँ भाव तय हुआ कि सौदा होने में देर नहीं लगती।

मेरे दिल में तस्वीरे यार है।
जब चाहा, गर्दन झुकाई देख ली।

फिर ऐसा सौदा हो जाता है कि वस्तु के साथ वस्तु बेचने वाला भी बिकने को बिना मोल के भी तैयार हो जाता है। एक बार बन्दा बाजार तो जाकर देखे। बाजार में खरीदने की नीयत से जाने पर ही उसे बस्तु मिलेगी। जब हम कुछ देने को तैयार होते हैं तभी हमें उस देने के बदले दुकानदार कुछ चीज देता है। यदि कोई बाजार में जाकर केवल भाव–ताव ही करता रहे तो क्या कुछ खरीद पावेगा। हमारी इच्छा कोरा भावताव है और साधना, समर्पण, स्वाध्याय कुछ देने वाली पूँजी है। साधना सम्पत्ति से भाव हो जाता है और सौदा मिल जाता है। जिसके पास कोई साधन–सम्पत्ति न हो तो क्या उसे सौदा नहीं मिलेगा ? मिलेगा लेकिन बिना अर्थ का सौदा मिलेगा। कभी–कभी कृपा से दान भी तो मिल जाता है। वह विश्वम्भर इतना दयालु है कि उसकी दुकान पर कोई पहुँच भर जाय तो उसे वह खाली नहीं जाने देता। कुछ न कुछ उसे जरूर दे देता है। जिनके पास साधन–सम्पत्ति हैं उन्हें तो अपने साधन के अनुसार ही सौदा मिलता है किन्तु उसकी दुकान पर कोई अबोध बाल पहुँचकर वस्तु की इच्छाभर कर दे तो वह दुकानदार इतना दयालु भी है कि बालक से कुछ दाम भी नहीं चाहता। ध्रुव प्रहलाद जैसा बालक हो तो वह विश्वम्भर भगवान से कहता है–

वैसे तो मेरी कीमत बेश है, कोई दे नहीं सकता।

अगर कोई खरीददार हो तो, मैं मुफ्त भी बिक जाता हूँ।

शर्त का सौदा सदा मँहगा पड़ता है।

जब कोई संसार के नश्वर पदार्थ– धन सम्पति पुत्र कलत्र आदि न मांगकर उस दुकानदार रूपी सर्वेश्वर की ही चाह और भूख पैदा कर लेता है, तो जैसे भूखा बच्चा भूख से व्याकुल होकर रोने लगे तो माँ से देखा नहीं जाता, तुरन्त माँ उसके लिए स्वयं उपस्थित हो जाती है। उसी तरह उसकी भूख पैदा होने पर वह बिना भाव के ही मुफ्त में बिक जाता है। मीरा ने गोविन्द को मोल लिया था। गोविन्द के बदले में –

अंसुअन जल जल सींचि-सींचि, प्रेम बेलि बोई।

प्रेम के आंसुओं का दाम देकर अपने प्रेम भाव से गिरधर नागर को अपना सर्वस्व बना लिया था।

रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में गोस्वामी तुलसीदास जी मानस के अधिकारी का निरूपण करते हुए एक स्थान पर उल्लेख करते हैं कि यह राम कथा चन्द्रमा की किरणों के समान भवताप दग्ध जनों को शीतलता प्रदान करने वाली हैं किन्तु उन्हीं लोगों को ऐसा फल देगी जो चकोर पक्षी की तरह भावमग्न होकर इसका अवलोकन करेंगे।

प्रसिद्ध है कि चकोर पक्षी चन्द्रमा की किरणों से इतना प्रेम करता है कि उसके धोखे में आग को भी खा जाता है। जो अपने इष्ट के नाम के लिए संसार की सारी विपत्तियाँ सह लेता है वही मालिक के नाम का इश्क पैदा कर सकता है। गोस्वामी जी ने रामकथा के लिए पर्वत की गुप्त खन का एक रूपक दिया है, वेद और पुराण ही पर्वत है तथा उनमें राम कथा सुन्दर रत्नों की खान है, उसके रहस्य को सज्जन ही जान पाते हैं, तथा अपनी सुमति रूपी कुदाली से ज्ञान और वैराग्य रूपी नेत्रों से देखकर खोदने लगते हैं तो उसमें से भक्ति रूपी मणियाँ प्रकट होने लगती हैं। खोदने के लिए उन्होंने विशेष स्थिति की शर्त लगा दी है। वह है भावसहित यदि पर्वत की खान खोदेंगे तभी उसमें से भक्ति रूपी मणियाँ निकल पायेंगी। यदि भाव नहीं रहा केवल ज्ञान और वैराग्य लेकर बुद्धि बल से ही उसे चाहा तो भी काम नहीं बनेगा। बन्दे में भाव होगा तभी प्रभु उसे अपनी अमूल्य निधि भक्ति देकर उसे कृतकृत्य बना देंगे।

पावन पर्वत वेद पुराना।
रामकथा रुचिराकर नाना।
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी।
ज्ञानविराग नयन उरगारी।।
भाव सहित खोजहि जो प्राणी।
पाव भगति मणि सब सुखखानी।।

हनुमान ने इसी भाव सम्पत्ति से श्रीराम की निर्भराभक्ति प्राप्त कर ली। शबरी इसी प्रेम भाव से कृतकृत्य हो गई। कर्मरूपी कीचड़ में इस शरीर रूपी कमल के अन्दर भावरूपी पराग पैदा करो तो कृपा रूपी भँवरा स्वयं तुम्हारे पास उड़कर आ जाएगा। जैसे कीचड़ में जन्म लेकर और उससे विकसित होकर भी कीचड़ से निर्लिप्त रहता है वैसे ही जो संसारी कार्य करते हुए अपने मन को दिव्य भाव से भर लेता है उसके कर्म निष्काम कर्म बन जाते हैं। जिससे वे कर्म बन्धन और सुख दु:ख के कारण तथा कर्माशय को बढ़ाने वाले नहीं बनते। श्रीमद् भगवद्गीता में योगेश्वर श्री कृष्ण ने अर्जुन को दिव्यभावापन्न होकर कर्म करने का उपदेश देते हुए कहा कि–

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि, संगंतयत्वाकरोतिय।

लिप्यते न स पापेन, पद्म पत्र मिवाम्भसा।।

अर्थात् जो आसक्ति रहित होकर ब्रह्म भाव में स्थिति होकर खाना पीना, सोना, बैठना, आदि कर्म करता है वह कर्मो से उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है जिस प्रकार कमल जल में रहते हुए भी जल की बूँदों का स्पर्श नहीं करता। अनासक्त स्थिति प्राप्त करने के लिए दिव्य भाव में स्थिति होकर कर्म करने की कला आनी चाहिए। दिव्यभाव वह है कि सर्वत्र अपने इष्ट का ही दर्शन होने लगे।

उठत जागत चलत बैठत, कबहु न वह छवि हिय विसरात।

दिव्य भाव के आते ही गीता की यह स्थिति चरितार्थ हो जाती है–

यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्व च मयि पश्यति।।

तस्याहं न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति।।

जो चराचर में उस व्याप्त सत्ता के दर्शन करता है तथा सब चराचर को उसमें देखता है उसके लिए ईश्वर की सारी सम्पत्ति प्रस्तुत रहती है और उसके योगक्षेम का वहन ईश्वर ही करने लगता है। ईश्वर अपने भक्त के संकट को अपने ऊपर स्वयं ले लिया करता है। वे भाव भक्ति के वशीभूत होकर अर्जुन का रथ हांकने वाले सारथी बन जाते हैं। माता यशोदा ने उनमें पुत्र का भाव किया तो माँ के सामने गोरस के लिए मचलते हैं। जब उनका भाव भिन्न हुआ तो अपने श्री मुख में ही विश्व रूप के दर्शन करा देते हैं, वे साधक के भाव के सांचे में ढलकर उसी आकार के बन जाते हैं जिस प्रकार का उसका भाव होता है। भरी सभा में द्रोपदी का चीर हरण हुआ। पहले द्रौपदी को अपनी सम्बन्धियों का बल था किन्तु उसने देखा उस के काम कोई नहीं आ रहा। फिर उसने अपना साहस बटोरा और अपने बल का भरोसा किया। अपने हाथ से अपनी साड़ी पकड़कर सम्भालने लगी। किन्तु उसका अपना बल भी थक गया तब उसने हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! कहकर करुण क्रन्दन किया। सर्वतोभावेन जब उनको पुकारा तो वे साड़ी के रूप में ही प्रकट हो गये। क्योंकि द्रौपदी ने यही तो कहा था कि मेरी साड़ी खींची जा रही है। 'मेरी साड़ी' यह भाव ही मुख्य था। इसलिए प्रभु ने सोचा यदि मैं स्वयं द्रौपदी की सहायता के लिए जाऊँ तो यह अनुचित होगा, यह मुझे तो चाह नहीं रही, हाँ, मुझसे अपनी साड़ी चाह रही है। जैसा उसका भाव था उसके अनुसार ही उन्होंने साड़ियों का अम्बार लगा दिया, दु:शासन साड़ी

(सारी) खीचते–खीचते थक गया। वह आश्चर्य में पड़ गया कि –

नारी बीच सारी है, कि सारी बीच नारी है।

या नारी ही की सारी है, या सारी ही की नारी।।

श्याम भाव के अनुसार कहीं सखा बन गये, कहीं शिष्य तो कहीं गुरु, कहीं गोपी।

मनु और शतरूपा के मन में भाव आया कि परात्पर ब्रह्म उनके बेटे बनें। भावानुकूल श्रीराम दशरथ और कौशल्या की बेटे बन गये। शतरूपा को इच्छा थी कि मुझे शिशुत्व का सुख भी मिले और उनके ईशत्व का आनन्द भी। मनु का भाव था कि मैं प्रभु तुम्हें केवल पुत्र रूप में पाया करूँ। पुत्र भाव ही मेरा रहे और कुछ नहीं। भगवान ने दशरथ और कौशल्या रूप मनु तथा शतरूपा के घर उनके भिन्न–भिन्न भावों की अनुसार ही जन्म लिया और तदनुरुप ही अपनी क्रीड़ायें तथा लीलायें कीं–

संस्कृत के महाकवि भारवि ने एक स्थान पर लिखा कि–

प्रेम्णि गुणाः बसन्ति, न तु वस्तुभि।

प्रेम भाव में ही गुण रहते हैं। वस्तु में न कोई गुण होता है न कोई अवगुण। जैसा हमारा उसके प्रति भाव होता है वैसी ही वह वस्तु हमें प्रतीत होने लगती है। जब हमारा उसके प्रति पूज्य भाव हो जाता है तो जड़ पदार्थ भी हमारे लिये आराध्य बन जाते हैं। यदि पूज्य चेतन के प्रति हमारा आदरभाव न हो तो वह हमारे लिए तिरस्कार करने योग्य बन जाते हैं। श्रवणकुमार में अपने माता पिता के पास देवभाव था तो वह मार्ग की सारे कष्ट उठाकर भी अपने अन्धे माता–पिता को कन्धे पर वेंगी (डोली) में रखकर तीर्थाटन के लिए चल पड़ा दिल्ली के पास आकर वहाँ की भूमि की कलुषता से श्रवण कुमार के भाव परिवर्तन होने लगे। वह सोचने लगा इन बुड्ढों को व्यर्थ ही मैं ढोरहा हूँ। ये काल के गाल में जाने वाले हैं। उसने आगे चलने से मना कर दिया। उसके माता पिता ज्ञानी थे। उन्होंने भाव परिवर्तन का कारण मालूम हो गया था। अतः उन्होंने कहा कि थोड़ी दूर ओर ले चलो। फिर हमें छोड़ देना। उसने कहना मान लिया। दिल्ली से कुछ दूर निकलकर पुनः उसका भाव सम्भल गया।

भाव क्या है?

भाव मन के अन्दर सत्व की उद्रेक स्थिति है। केवल सत्य की ही नहीं रज और तम की उद्रेक की स्थिति भी भाव होती है किन्तु जिस भाव की वर्तमान संदर्भ में चर्चा की जा रही है वह भाव मन की ऐसी अवस्था है जिसमें आनन्दानुभूति की चाह का स्फुरण ही भाव का संयोगेच्छा भी कहा जा सकता है। उन प्रिय से मिलने, प्राप्त करने या उनमें समा जाने की तीव्र इच्छा भाव बन जाती है। मन का क्षोभ संकल्प–विकल्प बन जाता है उससे इच्छा का जन्म होता है। जब इच्छा चित्तशक्ति का सान्निध्य प्राप्त कर लेती है तो इच्छा में शक्ति जुड़कर वह इच्छाशक्ति भावरूप बन जाती है। जब भाव में गहराई और तीव्रता हो जाती है तो उससे प्रकृति के गुणों में क्रिया होने लगती है। भाव संयोग की तीव्र चाह है। रसतरंगिणी में चित्तवृत्ति के परिवर्तन की रासायनिक क्रिया को भाव कहा है–

रसनुकूल विकारो भावः।

विकारोऽन्यथा भावः।

रसोवै सः

रस वह आनन्द धन चैतन्य ही है। उसकी चाह होने पर मन में तरलता पैदा होती है। मन पिघलने लगता है। यह पिघलने की क्रिया अहंकार को पिघला कर इतना तरल बना देती है कि सर्वत्र आनन्द भासित होने लगता है। भाव से ही चित्त की विभिन्न दशायें बनती हैं जिन्हें प्रेम की दशायें कहते हैं। यथा– अभिलाषा चिन्ता, स्मृति, प्रशंसा, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मरण आदि प्रेम की दश दशायें भावोदय से ही पैदा होती है। काव्य–शास्त्र में स्थायीभाव को ही रसदशा प्राप्त होती है।

स्थायी भावोरसस्मृतः।

अर्थात् स्थायी भाव ही विभावानुभाव व्यभिचारि भावों के संयोग से रस हो जाता है। भक्तिशास्त्र में जगत के सारे भावों का जब एक सच्चिदानन्दभाव में केन्द्रीकरण होता है तो वही भाव दिव्यभाव तथा महाभाव बन जाता है। महा भाव की अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि की आनन्दानुगत स्थिति में आ जाती है जब योगी सर्वत्र जित देखो श्याममयी हैं की अनुभूति करने लगता है। वह जिधर देखता है, उधर आनन्द के ही दर्शन करता है। उसके लिए मरण और जन्म दोनों ही महोत्सव बन जाते हैं। जिधर देखता है उधर ही आनन्द बिखर जाया करता है। किसी सूखे पेड़ का आलिंगन करले तो उसमें अंकुर निकल आते हैं। चैतन्य महाप्रभु अब दिव्यभाव और महाभाव में पहुँच जाते थे, उस समय कृष्ण–कृष्ण कहकर किसी सूखे वृक्ष से लिपट जाया करते। उनके आलिंगन करते ही आनन्द का संचार शुष्क वृक्ष में भी हो जाता था और उसके फलस्वरूप वृक्ष में नई–नई कोयलें प्रकट होने लगती थीं।

शास्त्रों में भाव की व्युत्पत्ति– '**भवनम् भावः** ' इस रूप में भी की गई है। होने व परिवर्तन की क्रिया का नाम भाव माना गया है। चित्त वृत्ति का रूपान्तरण भाव संज्ञक कहलाया गया। यह चित्तवृत्ति का रूपान्तर एक विशेष तापमान में हुआ करता है। जब चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी बनने लगती है तो रूपान्तर की प्रक्रिया शुरू हो जाती है इसे ही ध्यान कहा जाता है। भाव जब परिपुष्ट अवस्था प्राप्त कर लेता है तो ध्यान हो जाता है और ध्यान की परिपक्वावस्था समाधि बन जाती है। समाधि की परिणतावस्था प्रकृति पुरुष की शुद्ध अवस्था में बदल जाती है। ध्यान से तद्रूपता की प्राप्ति होती है। कृष्ण को देखते–देखते गोपियाँ कृष्ण ही बन गई। उन्हें अपना आपा ही विसर गया। जब वे दधि बेचने निकलतीं तो दधि का नाम विसर जाता और वे गली–गली कहती फिरती 'लैलेउरी कोई श्याम सलोना। ' यह भाव की परिपुष्ट अवस्था है। 'भू' सतार्थक धातु से घञ् प्रत्यय लग कर भावशब्द निष्पन्न होता है। पाणिनि ने 'भाव प्रधानमाख्यातम् ' इस सूत्र के द्वारा चित्शक्ति की क्रिया को भाव माना है। यह भाव निरन्तर बना रहे तो कीट भ्रमर न्याय से इष्टाकार में बदलकर समस्त इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण चेतना से ज्योतिमय बन जाते है। शास्त्रों में कहा भी है–

भावितं तीव्र वेगन, यद्वस्तु निश्चयात्मना।
पूमास्तद्धि भवेच्छीघ्रं, ज्ञेयं कीटभ्ररवत्।। अपरोक्षानुभूति– 140।।

यदि निश्चयात्मक मन से तीव्र संवेग द्वारा किसी वस्तु को अपने भाव का विषय बना लिया जाए तो मनुष्य भाव के अनुसार वही हो जाता है, भाव एक ऐसा सांचा है जिसमें ढलकर सारी वस्तुयें सोचने का आकार गहण कर लिया करती है। इसीलिए कहा जाता है कि जैसा भाव होता है वैसा ही भव अर्थात् संसार होता है यदि संसार के प्रति दुःख का भाव है तो सुखी भी दुःख रूप ही प्रतीत होता है। जैसा चश्मा चढ़ाले वस्तु का रंग और रूप चश्में के अन्दर वैसा ही दिखाई पड़ता है।

भाव के बिना योग, ध्यान, जप, यज्ञ सब कुछ निष्फल है। गोस्वामी तुलसी ने भाव को वत्स अर्थात् गाय के बछड़े की उपमा दी है। ज्ञानदीप प्रसंग में श्रद्धा रूपी धेनु के भावरूपी वत्स जब पैदा होता है तब भाव रूपी बछड़े के स्तनपान करने पर गाय दूध देती है।

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई।

भाव वच्छ शिशु पाइ पिनाई।।

भाव का जन्म श्रद्धा से होता है। जब तक श्रद्धा नहीं है तब तक सात्विक भाव बन ही नहीं सकता। बिना सात्विक भाव के ध्यान और समाधि नहीं हो सकते। बिना भाव के योग में सिद्धि नहीं मिल सकती। आचार्य चाणक्य का मत है कि बिना वेद मन्त्रों के अग्निहोत्र तथा बिना दान के सारी क्रियायें निष्फल हैं। इसी प्रकार भाव के बिना किसी भी कार्य में सिद्धि नहीं मिल पाती। इसलिए भाव ही सफलता का मूल कारण है। आज कल योग के प्रचारकों की बाढ़ आयी हुई है किन्तु अधिकांश का भाव धन संचय करना है योग का प्रचार नहीं। अतः योग से उतना कल्याण नहीं हो पाता जितना होना चाहिए।

अग्निहोत्रं बिना वेदाः , न च दानं बिना क्रियाः।

न भावेन बिना सिद्धिः, तस्मात् भावो हि कारणम्।।

चाणक्य नीति – 1

भाव से ही इस हाड़–मास के शरीर में माता–पिता, भाई, गुरु, में पूज्य बुद्धि होती है। जिस मूर्ति की पूजा करते हैं, वह काष्ठ एवं पत्थर की मूर्ति बिना भाव के पत्थर मात्र ही है। देवता मूर्ति में तभी उतरता है जब पहले हमारे अन्दर के भाव में वह हो। यदि अन्दर नहीं है तो बाहर कभी नहीं हो सकता।

न देवो विद्यते काष्ठे, न पाषाणे न मृण्मये।

भावो हि विद्यते, देवस्तस्माद् भावो हि कारणम्।।

काष्ठ पाषण धातूनां, कृत्वा भावेन सेवनम्।

श्रद्धया च तया सिद्धिस्तस्य, विष्णोः प्रसादतः।।

यदि पत्थर काष्ठ धातु की मूर्ति का देवबुद्धि से श्रद्धा पूर्वक सेवन किया जाय तो ईश्वर की कृपा से उसमें चितिशक्ति का प्रकाश हो जाता है। जो मूर्ति को अपनी जीविका का साधन मानकर उसी भाव से उसका पूजन अर्चन करते हैं उन्हें भाव के अनुसार अपना इच्छित पदार्थ प्राप्त होता रहता है। राम–कृष्ण परमहंस भी मूर्ति की पूजा करते थे किन्तु उनका भाव था कि

इस मूर्ति में साक्षात् जगदम्बा विराज रहीं है और वे ही इस संसार में अनेक रूप धारण कर लीला कर रहीं हैं। परमहंस को इस भाव से ही सब कुछ मिल गया। यदि राम कृष्ण परमहंस जैसा पुजारी बन जाए तो सारा काम ही न बन जाए।

सारा जगत भावमय है। परिवर्तन से नाना प्रकार की समस्यायें पैदा हो जाती है। पदार्थ एक ही है किन्तु अपने–अपने भाव के अनुसार अलग–अलग प्रतीत होती है तथा उस पदार्थ के प्रति व्यवहार भी भिन्न–भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए कोई सुन्दर युवती है। वही भावभेद से अनेक रूपों में दिखाई देने लगती है। जो उसे माँ के भाव से देखता है उस युवती में ममता करुणा तथा अमित स्नेह की प्रतीति होती है तथा जो उसे पत्नी भाव से देखता है उसे उसमें वासना की प्रतीति होती है। इसी प्रकार जो उसे भगिनी, पुत्री आदि–आदि भिन्न–भिन्न भावों से देखता है उसे अपने भाव के अनुसार ही अनुभूति होती है। नोतिज्ञ चाणक्य ने कहा भी है–

एक एव पदार्थस्तु, त्रिधा भवति वीक्षितः।
कुणयं कामनी मांसं, योगिभिः काभिभिः श्वभिः।।

शास्त्रों में शब्द तथा अर्थ से भिन्न तात्पर्यार्थ होता है। वही वस्तुतः भाव है। उसे ही पदार्थ कहा जाता है। केवल शब्द ज्ञान से कुछ नहीं होता। जिस तरह पुष्प में रंग रूप के अतिरिक्त गन्ध भी होती है उसी प्रकार पुरुषों के हृदय में भाव रूप पराग है। जैसे अपने इष्ट की स्मृति, चुभन, वेदना, दर्द और मिलनोत्कण्ठा भाव ही है हमारा लिंग शरीर भावमय ही होता है। (भावैरधिवास्तिंलिङ्गम्– सांख्यकारिका) भाव ही हमारे भव अर्थात् जन्म का भी कारण है। सन्तानोत्पत्ति क्रिया के समय पति–पत्नि के मन में जैसा–जैसा भाव होता है उसी तरह का भावी बच्चे का स्वभाव बनता है। यदि दम्पति का भाव दिव्य है तो कामविकार के साथ दिव्य चेतना बालक में संक्रमित हो जाती है। इसके विपरीत यदि वासना और भोग का ही भाव होता है तो बालक जन्म से ही काम–वासना का पुतला बन जाता है। गरुड़ पुरण में इस सिद्धान्त का प्रमाण मिलता है–

निषेक समये यादृक् , नरचित्त विकल्पना।
तादृक् स्वभाव संभूति, र्जन्तु विशति कुक्षिगः।।

माता पिता जैसी चाहे वैसी ही सन्तान बना सकते हैं। यदि वे काम को धर्मसम्मत बनाकर गृहस्थ में प्रवृत्त हो।

केवल स्वभाव ही नहीं मृत्यु के समय का उपसंहार करते हुए कहा कि सभी लोग अपने गुरुदेव से प्राप्त मंत्र का बताई गई विधि से ध्यान करें। आनन्दकन्द प्रभु जी सबका कल्याण करेंगे। अन्त में आपने सभी को आशीर्वाद दिया।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

महा प्रभु जी का रजः प्रसाद

श्री राजेश्वरदत्त शर्मा (दिल्ली)

मेरे एक मित्र श्री पी. एन. मित्तल, मरकरी ट्रैवल्ज संसद मार्ग दिल्ली में कार्य करते हैं। उनके छोटे भाई श्री दयाराम मित्तल को डी.टी.सी. में स्टोर कीपर की नौकरी दिलाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। करीब पाँच साल पहले श्री दयाराम मित्तल की शादी एक सम्पन्न परिवार में हुई थी। इस शादी के अवसर पर मुझे भी आमन्त्रित किया गया था, परन्तु किसी कारण वश मैं इस में सम्मिलित न हो सका था।

एक दिन प्रातः काल लगभग 8 बजे श्री दयाराम मेरे घर पर आये। मैंने समझा कि वह अपने दफ्तर के किसी कार्य से आये हैं। कुशल क्षेम पूछने के बाद मैंने उनसे उनकी पत्नी के बारे में भी औपचारिक रूप से पूछा। यह सुनकर उन्होंने कहा कि वह एकान्त में कुछ बात करना चाहते हैं। यह सुनकर मेरी पुत्री निर्मल तथा धर्म पत्नी जो वहीं बैठी थीं, दूसरे कमरे में चली गई। मैंने कहा कि अब मैं अकेला हूँ, निःसंकोच बतलाओ कि तुम्हें क्या कष्ट है ? इस पर श्री दयाराम ने जो कुछ कहा मैं उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत कर रहा हूँ। वे बोले " मैं एक रोज रात्रि के करीब 12 बजे अपनी डयूटी समाप्त कर घर आ रहा था, दफ्तर की गाड़ी ने मुझे दिल्ली गेट के पास उतार दिया, (वहाँ से घर अजमेरी गेट के पास करीब 1.5 मील है। जब मैं रामलीला ग्राउण्ड के पास पहुँचा तो मैंने देखा कि कोई नव-विवाहित स्त्री, पूरा श्रृंगार किये हुए, अचानक कहीं से आई और मेरे साथ-साथ चलने लगी। उसे साथ-साथ चलते देख मैंने सोचा कि यह स्त्री किसी असामाजिक तत्व के गिरोह के साथ होगी, और कुछ देर में इसके साथी आ जायेंगे,और मुझ पर अकेली औरत से छेड़ छाड़ का झूठे आरोप लगाकर झगड़ा करना चाहेंगे। मेरे पास जो भीरुपया पैसा व सामान है उसे छीनकर ले जायेंगे। विचारः में डूबते हुए मैंने सोचा कि इस समय मेरे पास थोड़े रुपये तथा एक घड़ी है, ज्यादा से ज्यादा यही छीन लेंगे। परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ, उस औरत ने मुझ से बात करना आरम्भ किया। मुझ से पूछा तुम्हारी शादी क्या हो गई है? मैंने कहा हो गई है। उसने कहा तुम्हारी पत्नी अच्छी औरत नहीं है, अतः तुम मेरे साथ घर चलो और मुझे अपना दोस्त व साथी समझो,उसने कई बार यह प्रयत्न किया कि मैं उसके रूपरंग से प्रभावित हो जाऊँ। परन्तु मुझे तो यही डर लग रहा था कि यह औरत मक्कारी से मुझे अपने घर ले जाना चाहती है और वहाँ ले जाकर मेरे साथ कोई भी आरोप लगा सकती है। इस प्रकार कुछ-कुछ बात करते -करते हम आसफअली रोड पर हमदर्द दवाखाने के चौराहे के पास पहुँच गये, वहाँ से मेरा घर निकट था, तथा मुझे कुछ हौसला भी हो गया- और हिम्मत करके मैंने उस औरत को झिड़क कर कहा कि तुम मेरे पीछे क्यों पड़ी हो, मुझे तुम्हारे साथ कहीं नही जाना है। तुम अपना रास्ता नापो।

यह सुन कर उस औरत ने कहा कि यदि तुम मेरी बात नहीं मानोगे तो तुम्हें जीवन भर

पछताना पड़ेगा। इसी बीच हम चौराहे पर पहुँच चुके थे। मैंने आवेश में आकर कहा कि मैं तुम्हारी बात मानने को तय्यार नहीं हूँ और तुम जाओ जो करना हो कर लो। इतना कहकर मैंने अपना मुँह घुमाया और अपने घर के रास्ते कीओर कदम बढ़ा दिए। तुरन्त ही आश्वस्त होने के लिए कि वह औरत गई या नहीं मैंने पीछे मुड़ कर देखा तो मेरी हैरानी की कोई सीमा नहीं रही, यह देख कर कि वह औरत कहीं ओझल हो गई है। चौराहे पर आस–पास छिपने की भी कोई जगह नहीं दिखाई दे रही थी। अन्त में मैं अपने घर चला गया। श्री दयाराम मित्तल ने मुझे बतलाया कि वही औरत मुझे रात्रि को नित्य नजर आती है और मेरी नींद भी उसने हराम कर रखी है।

वह सब सुन कर मैंने उससे पूछा कि भाई अब तुम यह बतलाओ कि तुम यहाँ किस लिए आये हो ? मैं कोई स्याना या सिद्ध नहीं हूँ जो तुम्हारा इलाज कर सकूँ। मैंने किसी ऐसे व्यक्ति के पास जाने की सलाह दी जो इस प्रकार का इलाज करता हो। उसकी जानकारी के लिए मैंने उसे एक व्यक्ति का पता बतला दिया और कहा तुम उसके पास कल प्रातः ही चले जाना, हो सकता है कि वह तुम्हारा इलाज कर सके। यह सुनकर श्री दयाराम ने कहा कि शर्मा जी कल तो मैं चला जाऊँगा, परन्तु आज की आने वाली रात्रि कैसे व्यतीत होगी, मुझे तो यह चिन्ता है। अकस्मात् मेरे मन में प्रेरणा हुई कि इसे रज का प्रसाद चटा दिया कुछ पुड़िया में बांध कर दे दिया कि इसे सायं काल या रात्रि को सोने से पहले ग्रहण कर लेना। वह अपने घर चला गया और मैं अपने दफ्तर। इसके बाद मैं इस घटना को भूल गया। करीब दो माह बाद उनके बड़े भाई श्री. पी.एन. मित्तल ने मुझे बतलाया कि वह तो आप के दिए हुए रजप्रसाद से उसी दिन से ठीक है। यह सुन कर मेरे मन को जो हर्ष हुआ उसे मैं ही जानता हूँ। श्री प्रभुजी किस प्रकार अपने अबोध बालकों पर कब और कैसे कृपा बरसाते है, इसकी महिमा स्वयं ही जानते हैं।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

प्रज्ञान-मन

स्वामी आत्मानन्द जी महाराज

मन का जो भाग मस्तिष्क में रहता हुआ काम कर रहा है उसे प्रज्ञान अथवा बुद्धि कहते हैं। इसके पास ही चित्त का केन्द्र है जिसे कि इन मंत्रों में चेतस कहा है। बुद्धि का लोक मन का प्रकाशमय लोक है। ज्ञान-इन्द्रियों के द्वारा जो विषय प्रकाश में आया करते हैं, तर्क की कसौटी पर रख कर उनकी परख मन के इसी लोक में हुआ करती है। मनन और निदिध्यासन को सब क्रियायें मन के इस भाग से सम्बन्धित हैं। ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा हमें जो अनुभव हुआ करते हैं उन सबके आकार तथा प्रभाव चित्त पर अङ्कित हो जाते हैं। ये अनुभव अभी आरम्भिक स्थिति में हैं चित्त के पटल पर इनका चित्रण हुआ तो अवश्य है परन्तु अभी यह उस स्थिति में नहीं है जिसे हम कुछ काल के लिये स्थायी कह सकें। इनमें से बहुत से चित्र तो आकाश में प्रकट हुए मेघ के टुकड़ों की भाँति तत्काल ही कहीं छिप जाते हैं। स्थिर वे ही अनुभव रहते हैं जिन पर बुद्धि काम करना आरम्भ कर देती है। जिस विषय का हमने अनुभव किया है उसका बार-बार युक्तियों और प्रमाणों से मनन करते हुए निश्चय की स्थिति तक पहुँचाना बुद्धि का ही काम है। बुद्धि के प्रकाश में लाकर चित्त के पटल पर अनुभव के स्थिर कर देने का नाम निदिध्यासन है। मनोविज्ञान के इन मंत्रों में भी बुद्धि को प्रकाश का केन्द्र ही कहा है। मंत्र का अर्थ पाठक पहिले पढ़ आये हैं, अतः हम यहाँ मंत्र के उतने ही भाग को उद्धृत करते हैं जितने के साथ बुद्धि का सम्बन्ध है। इस मंत्र में पहिला वाक्य है '**यत्प्रज्ञानम्**' अर्थात् मन का एक भाग वह है जिसे प्रधान या बुद्धि कहते हैं। और इसका लक्षण करते हुए इसी मन्त्र में आगे चलकर लिखा है '**यज्ज्योतिरन्तः**' जो कि अन्दर ज्योति अर्थात् प्रकाशरूप है, वह प्रज्ञान-लोक है।

यद्यपि मन का यह पटल प्रकाशमय है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि बुद्धि के प्रकाश में विषयों का वास्तविक रूप ही सदा प्रकट हो, हमारी बुद्धि की भी तीन अवस्थायें हैं। कभी इसका प्रकाश, आँखों की पुतलियों पर छाये हुए जाले की भाँति तमोगुण के बढ़ जाने पर धुंधला हो जाया करता है। इस अवस्था में कितना ही यत्न करने पर भी बुद्धि वस्तु के यथार्थ रूप को देख ही नहीं सका करती। ऐसी अवस्था भी आ जाया करती है जब कि तमोगुण से दूषित बुद्धि वस्तु के स्वरूप को सर्वथा विपरीत देखने लगती है। बुद्धि का यह पटल प्रकाशमय होता हुआ भी अन्धकारमय है। अतएव उन्नति के अभिलाषी विद्यार्थियों तथा अभ्यासियों को अपनी बुद्धि को तमोगुण के इस पङ्क में फंसने से सदा बचा रखना चाहिये।

बुद्धि को इस कीचड़ से बचा रखने का उपाय यह ही है कि जोकि आलस्य-महाशत्रु से शरीर के अन्य अङ्गों को बचा रखने का है।

आलस्य भी तमोगुण का ही एक दूत है। और जब इसका आक्रमण शरीर पर होता है, तो प्रत्येक अङ्ग ढीला और बोझल हो जाता है। हाथ-पैर हिलाने और उठाने को मन नहीं चाहता। साहसी मनुष्य आलस्य की इन बेड़ियों को जिन्होंने कि उसके शरीर को जकड़ लिया है, काटने की चेष्टा करता है। पहिले वह उसके उस भण्डार को, जहाँ से यह स्त्रोत आ रहा है, खाली करने की चेष्टा करता है, वह अपने खान-पान की उस सामग्री पर नियन्त्रण करना आरम्भ करता है जो शरीर में अनावश्यक कफ और तमोगुण को जन्म दे रही थी। और फिर जितना यह दोष शरीर में प्रविष्ट हो गया है उसे निकाल बाहर करने के लिए तपोमय तथा कर्तव्य-परायण कार्यक्रम आरम्भ करता है। जिस प्रकार मन्थन से दही में ताप के प्रकट होते ही मक्खन निकल आता है, मन्थन से ही दो लकड़ियों के तपते ही उनमें से छिपी हुई अग्नि प्रकट हो जाती है ठीक इसी प्रकार कार्यक्रम की अटूट आयोजना कर कर्तव्य परायण होते ही शरीर के सब अंग तपोमय बन अपनी आलस्य की बेड़ियों को काट रजोगुण को जन्म देने में सफल हो जाते हैं। और रजोगुण का साम्राज्य आरम्भ

होते ही हमारी बुद्धि से भी अन्धकारमय पटल उठ जाता है।

तमोगुण की जड़ता दूर हो जाने पर अब आलस्य के स्थान पर चंचलता तथा गति का क्रम आरम्भ होता है। अब कार्य में तत्पर रहने कोमन चाहता है। लम्बे–चौड़े मनोरथों की माला प्रस्तुत होने लगती है उनके पूर्ण करने के साधन जुटाने के उपाय आरम्भ हो जाते हैं। शरीर के सब अंग कार्य में जुट जाते है और अनेक स्थानों पर सफलता के भी दर्शन होने लगते है। यह सब कुछ होता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि कार्यक्रम का यह रथ जीवन के उस ध्येय की ओर ही बढ़ा जा रहा हो जिसे हम जीवन तरुवर का मीठा फल कहते हैं कारण स्पष्ट है कि जिस प्रकार आकाश में चमकती हुई विद्युत को चंचल तरंगें, विषय को प्रकाश में लाकर प्रकट तो कर देती है, परन्तु उस स्थान से झट ही हट जाने के कारण उसका सर्वाङ्ग निर्णय करने में समर्थ नहीं होती।

इसी प्रकार रजो गुण की तीव्र गति में बहती हुई बुद्धि के प्रकाश की तरंगें उस कार्यक्रम का यथार्थ निर्णय करने में समर्थ नहीं हुआ करतीं, जिसका कि परिणाम व्यापक शांति और प्राणिमात्र के सुख को बढ़ाने के रूप में प्रकट हो सके। रजोगुण का चला हुआ विक्षेप का यह चक्र, मन, प्राण इन्द्रिय और बुद्धि किसी को भी स्थिर नहीं होने देता। कार्य अत्यन्त वेग से चलता है, परन्तु फल की ओर दृष्टिपात करने पर अशांति और क्लेश की ही दहकती हुई अग्नि हमें अपनी ओर आती दिखाई देती है। दृष्टांत के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं, हम आज कल के ही प्रकृति पूजक वैज्ञानिक जगत की ओर एक दृष्टि उठाकर देख सकते हैं। रजोगुणी बुद्धि मनुष्य को दत्त चित्त होकर कार्य करने की ओर तो अग्रसर कर देती है, परन्तु विवेक से वह कोसों दूर रहती है।

इस प्रकार घृणित फल को जन्म देने वाले कार्यक्रम से मनुष्य ऊब जाता है। और जब चाहता है कि बुद्धि का वह आलोक मिले, जिसमें स्थिरता और उज्जवल सात्विक झलक हो। जिसके प्रशांत प्रकाश की किरणें विश्वव्यापी शाँति देवी के मन्दिर का मार्ग बतला रही हो। जिसे सैकड़ों उपदेशक उपदेश दे देकर थक चुके थे और कान पर जू तक नहीं रेंगती थी वह ही आज अपने कार्य–क्षेत्र की लम्बी चौड़ी दौड़ के भयंकर परिणाम को देखकर, बुद्धि के इस तीसरे पटल की गम्भीर खोज में लगा है। बलपूर्वक लगी हुई ठोकर मनुष्य की आँखें खोल देती हैं। इसकी पहुँच वहाँ भी है जहाँ विज्ञान और उपदेश दोनों की दाल नहीं गलती।

बुद्धि के इस सात्विक लोक में पहुँचने के लिए यात्री के हाथ में धैर्य और संतोष का होना अत्यन्त आवश्यक है। स्थिरता की चेष्टा करने पर भी रजोगुण का प्रबल वेग उसे सहसा उठाकर कोसों दूर फेंक देगा। परन्तु विवेक के शीतल प्रकाश की चमक में वह फिर भी अपने आपको अपने ध्येय की ओर सीधा मुख किये हुये अटल खड़ा पायेगा। जिस प्रकार पानी में पत्थर फेंकते रहने पर उसे अचल देखने की इच्छा निराधार है उसी प्रकार कामनाओं का चक्र चलाते हुये बुद्धि में स्थिरता अथवा सत्वगुणों के सञ्चार की कामना भी निर्मूल है। जो विद्यार्थी और अभ्यासी बुद्धि के इस लोक का दर्शन करना चाहते हैं, उन्हें रजोगुणी पदार्थों का सेवन छोड़ सात्विक पदार्थों का प्रयोग करना पड़ेगा और अपने चलते हुये कामना चक्र को रोक निष्काम कर्मयोग की शरण लेनी पड़ेगी। उन्हें अपने हृदय मन्दिर के कपाट प्राणिमात्र के लिये खोल देने होंगे और अपने स्वार्थ की आहुति दीन और दुखियों के भूखे पेट में डाल देनी होगी। उन्हे अपने कानों को विश्वव्यापी शान्ति का मनोहर गान सुनने के लिए खोल रखना होगा, और विश्व की आत्माओं में बहती हुई अपने प्रेम की गङ्गा के मनोहर दृश्य देखने के लिये उत्सुक रहना होगा। यदि उसे ये सब दृश्य देखने का अवसर मिल सका, तो समझना चाहिये कि उसकी बुद्धि में सत्वगुण जाग उठा है। और रजोगुण उसका अनुवर्ती होकर कार्य करने के लिये विवश हो गया है। बुद्धि में सत्वगुण का विकास हो जाने पर वह सत्य का पोषण करने लगता है अब उसके निर्णय यथार्थ होते है, ध्येय निश्चित हो जाता है, संशय और तर्क वितर्क कर्त्तव्य से विचलित करने के लिए आगे नहीं बढ़ते और मनुष्य को अपना कर्त्तव्य–पथ, आदित्य के उज्जवल प्रकाश में पदार्थों की भांति, इस बुद्धि के प्रकाश में, स्पष्ट दिखाई देने लगता है। जिस प्रकार गम्भीर जल में फेंका हुआ पत्थर उसमें स्थायी क्षोभ को उत्पन्न नहीं कर सकता, क्षणिक क्षोभ की एक तरंग उठती है और किनारे पहुँचते ही शान्त हो जाती है। और जल फिर अपनी उसी समतल रेखा में स्थिर पाया जाता है। ठीक इसी प्रकार मार्ग में आये हुए

विघ्न-बाधाओं के क्षोभ-कारक प्रहार भी इस बुद्धि में क्षणिक क्षोभ को उत्पन्न कर नष्ट हो जाते हैं। और यह फिर अपने उसी प्रथम आकार में चमकती हुई निश्चल दिखाई देती है। रजोगुण की प्रधानता के समय इस के प्रकाश को विद्युत के प्रकाश की उपमा दी गई थी, परन्तु अब हम उसके प्रकाश को सूर्य के प्रकाश की उपमा दे रहे हैं। बुद्धि के प्रकाश की स्थिरता और स्पष्टता ही उसे इस उपमा के मिलने में कारण है। सत्वप्रधान बुद्धि की व्याख्या करते हुए कृष्ण भगवान ने गीता में लिखा है:-

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च, कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति, बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी।।

— गीता 18/30

धर्म और अधर्म कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय, बन्ध और मोक्ष इन सबको जो जानती है, हे अर्जुन! वह सात्विकी बुद्धि है।

यह कर्म, धर्म है और यह अधर्म यह निर्णय एक जटिल समस्या का हल है। आज जो कर्म मेरे लिये धर्म है कल ही दूसरी अवस्था में जाकर वह अधर्म हो जाता है। मैं संग्राम भूमि में लड़ने जा रहा हूँ। मैंने मार्ग को ध्यान से न देखा और मेरे पैर के नीचे आकर एक छोटा सा कीड़ा कुचल गया और मर गया। देखने वाला धार्मिक मनुष्य मेरे इस कर्म को अधर्म और धर्म से पतित कहेगा। मैं संग्राम-भूमि में पहुँच जाता हूँ, लड़ाई आरम्भ हो जाती है, लक्ष्य की ओर भली भाँति दृष्टि बांध कर एक के अनन्तर दूसरा तीर फेंकना आरम्भ कर देता हूँ और सैकड़ों वीरों को मृत्यु के कराल काल में भेज देता हूँ। यदि मैं वीरता से लड़ा हूँ और छाती में तीर खाकर भी एक पग पीछे नहीं हटाया, तो इतनी हत्याएँ करने पर भी लोग मेरे इस कर्म को धर्म और मुझे धार्मिक कहेंगे

धर्म और अधर्म के विवेक की उलझन का यह एक मोटा सा दृष्टान्त है। इन दोनों के विवेक की समस्यायें मनुष्य के सामने प्रतिदिन आती हैं, और इतनी उलझी हुई आती हैं कि कई स्थानों पर शास्त्र-वेत्ता लोगों की परिष्कृत बुद्धि भी कुण्ठित हो जाती है। परन्तु सत्वगुणी बुद्धि की ऐसी महिमा है कि उसके प्रकाश में यह सब गांठें बात की बात में खुलती चली जाती हैं। जिसने शास्त्रों को नहीं भी पढ़ा उस मनुष्य को भी इस बुद्धि के प्रकाश में धर्म और अधर्म का भेद ऐसा ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा, जिस प्रकार सूर्य प्रकाश में गुलाब और चमेली के फूल का। यह कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर हमारे पास इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं, कि ' हो सकता है।' अनपढ़ भगवद्भक्तों के वचन बहुत से स्थानों पर सत्य होते देखे गये हैं। उन्होंने इस विषय को कैसे जान लिया होगा ? इस प्रश्न का उत्तर वह मनुष्य कैसे देगा और वह समझने वाला कैसे समझेगा, जिसके पास सात्विक बुद्धि की वह उज्जवल ज्योति नहीं है, जो कि उस भगवद्भक्त के पास थी। जो जिज्ञासु इस प्रश्न का उत्तर लेना चाहते हैं उन्हें तपश्चर्या की दहकती हुई भट्टी में डाल अपनी इन्द्रियों, मन और बुद्धि को कुन्दन बनाना होगा। अर्थात् उनके रोम-रोम में रमे हुए तमोगुण और रजोगुण के मलों को भस्म कर उनका स्थान सत्वगुण के समुज्जवल प्रकाश के अर्पण करना होगा।

जिस प्रकार धर्म और अधर्म का विवेकज्ञान कठिन समस्या है, इस प्रकार कर्तव्य और अकर्तव्य का पहिचानना भी टेढ़ी खीर है।

मुझे अब क्या करना चाहिये ? यह समस्या संसार-यात्रा के प्रत्येक यात्री के सामने अनेकों बार आती है। और कई बार तो इतनी उलझी हुई आती है कि सुलझाना कठिन हो जाता है। अर्जुन की इस समस्या को कि 'लड़ू या नहीं ? ' और अपनी इस समस्या को कि 'मैं कौरवों का साथ दूँ ' या पाण्डवों का ? ' सत्वगुणी बुद्धि के धनी योगिराज कृष्ण भी कितनी कठिनाई से सुलझा सके थे, इस बात को इतिहास के पढ़ने वाले लोग भली भाँति जानते हैं। परन्तु जीवन की इस विकट समस्या की पूर्ति का सरल उपाय भगवान कृष्ण ने इस श्लोक के शब्द में ही बतला दिया है, कि बुद्धि में सत्वगुण को प्रधान कर दो। सत्वगुण वाली बुद्धि ही प्रज्ञान मन कही जाती है और यही धर्म-अधर्म सत्य-असत्य का निर्णय कर पाने में समर्थ होती है।

सन्त - वाणी

सुख का साथी जगत सब, दुख का नाहीं कोय।
दुख का साथी साइयां, दादू सतगुरु होय।।

दादू दीया है भला, दिया करो सब कोय।
घर में धरा न पाइये, जो कर दिया न होय।

जिहि घर निन्दा साधु की, सो घर गये समूल।
तिनकी नवीं न पाईये, नांव न ठांव न धूल।।

क्या सुख लै हँसि बोलिए, दादू दीजै रोय।
जनम अमोलक आपना, चले अकारथ खोय।।

काया कठिन कमान है, खींचें विरला कोइ।
मारै पांचौं मिरगला, दादू सूरा सोइ।।

– सन्त दादू दयाल

सद्‌गुरु

अन्तर थो बहु जनम को, सतगुरु भाँग्यो आय।
दरिया पति से रूठयों, अब करि प्रीति बनाय।।
जन दरिया हरि भक्ति, गुरां बताई बाट।
भूला ऊजड़ जाय था, तर्क पड़न के घाट।
डूब रहा भव सिन्धु में, लोभ मोह की धार।
दरिया गुरु तैरू मिला, कर दिया परले पार।।
नहिं था राम रहीम का, मैं मतहीन अजान।
दरिया सुध बुध ज्ञान दे, सतगुर किया सुजान।।

– संत श्री दरिया सहाय

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Agra 19/21-23 OCTOBER 2022

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तो का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सैंवाई (रुनकतापुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ________

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीय गतिर्भवति।।
(भर्तृहरि नीतिशतक)

अर्थात् दान देना, धन का स्वयं उपभोग कर उसका उपभोग करना और नष्ट होना- ये धन की तीन गतियाँ हैं। जो व्यक्ति न तो धन का दान करता है और न स्वयं ही धन का उपयोग करता है, उसके धन की तीसरी गति होती है यानि ऐसा धन नष्ट हो जाता है।

संस्थापक :- योगयोगेश्वर [illegible] श्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. [illegible] शर्मा के लिए [illegible] आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सैंवाई [illegible] आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14505 सम्पादक : [illegible] शर्मा